काव्य के रूप : एक अध्ययन

(प्रश्नोत्तर रूप में)

लेखक

चन्द्रभानु मिश्र 'प्रभाकर'

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य भण्डार

५५, चौपटिया रोड, लखनऊ—२२६ ००३.

संस्करण 1887] [मूल्य Rs. 15.00

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य भण्डार
५५, चौपटियाँ रोड, लखनऊ—३

मुद्रक
रचना आर्ट प्रिंटर्स
लखनऊ

प्रश्न-सूची

१—साहित्य

प्रश्न सं०		पृष्ठ सं०
१	साहित्य की परिभाषा देते हुए प्रेरणा के स्रोत एवं प्रयोजन का उल्लेख कीजिए।	६
२	साहित्य के साथ 'समाज और नैतिकता' का क्या और कहाँ तक सम्बन्ध है ? संक्षिप्त में उत्तर दीजिए।	१३
३	'साहित्य तथा विज्ञान' का पारस्परिक सम्बन्ध संक्षेप में स्पष्ट करते हुए दोनों की सीमा निर्धारित कीजिए ।	१६
४	साहित्य और कला के परस्पर सम्बन्ध का स्पष्टीकरण कीजिए।	२१
५	'कला' शब्द की पूर्ण व्याख्या कीजिए और स्पष्ट कीजिए कि कलाओं को 'ललित' और 'उपयोगी वर्गों में विभाजित करना कहाँ तक समीचीन है।	२८
६	'कला कला के लिए है' कला लोकहित के लिए है—इन दोनों कथनों की व्याख्या करते हुए यह भी स्पष्ट कीजिए कि वास्तविक कलास्वरूप में उनमें सामंजस्य कहाँ तक हो सकता है ?	२८
७	साहित्य के विविध रूपों का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।	३२

२—काव्य

८	काव्य किसे कहते हैं ? पाश्चात्य और भारतीय दोनों मतों का उल्लेख करते हुए सम्यक् विवेचन कीजिए।	३४
९	काव्य के 'कारण' और 'प्रेरणा' के 'स्रोत' पर अपने विचार दीजिए।	४६

प्रश्न सं०		पृष्ठ सं०
१०	काव्य के 'प्रयोजन' के सम्बन्ध में विभिन्न मतों का आलोचनात्मक परिचय दीजिए।	५१
११	काव्य के 'दो पक्ष' कौन-कौन से हैं? उनका स्पष्ट विवरण दीजिए।	५७
१२	काव्य के 'प्रधान तत्वों' का आलोचनात्मक परिचय प्रस्तुत कीजिये।	६२
१३	काव्य में 'सत्यं, शिवम् और सुन्दरम्' का आधार स्पष्ट कीजिए।	६७
१४	'काव्य की आत्मा रस है।' इस कथन को ध्यान में रखते हुए रस के अंगों का सम्यक् परिचय दीजिए।	६७
१५	'रस निष्पत्ति' से आप क्या समझते हैं? इस सम्बन्ध में विविध मतों का संक्षिप्त परिचय देते हुए स्पष्ट कीजिए।	७४
१६	'रस किसे कहते हैं?' इसकी निष्पत्ति कैसे होती है?	७४
१७	'रस' को स्पष्ट करते हुए रसानुभूति का स्वरूप भी समझाइए।	७४
१८	'रस-निष्पत्ति' को स्पष्ट करते हुए 'साधारणीकरण' का भी विवेचन कीजिये।	७४
१९	'अलंकार-सम्प्रदाय' का संक्षिप्त परिचय देकर, अलंकारों का महत्व बताते हुए संक्षेप में उनके वर्गीकरण का स्वरूप भी विवेचन कीजिए।	८४
२०	'रीति सम्प्रदाय' का संक्षिप्त आलोचनात्मक परिचय दीजिए।	८८
२१	'वक्रोक्ति सम्प्रदाय' का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत कीजिए।	९४
२२	'ध्वनि सम्प्रदाय' का सम्यक् परिचय देते हुए ध्वनि के आधार पर काव्य भेदों का उल्लेख कीजिए।	९७
२३	'काव्य के वर्गीकरण' के पाश्चात्य और भारतीय दृष्टिकोणों का ध्यान रखते हुए गद्य और पद्य का अन्तर स्पष्ट कीजिए तथा पद्य-काव्य के प्रमुख भेद बताइए।	१०१

प्रश्न सं० पृष्ठ सं०

२४ 'महाकाव्य' के स्वरूप के सम्बन्ध में भारतीय एवं पाश्चात्य (प्राचीन एवं आधुनिक) धारणा का संक्षिप्त उल्लेख करते हुए महाकाव्यों को वर्गीकृत कीजिए। १०७

२५ 'खण्ड काव्य' से क्या अभिप्राय है ? महाकाव्य और इसमें अन्तर स्पष्ट कीजिए। ११५

२६ 'मुक्तक काव्य' की स्पष्ट विवेचना करते हुए उसके विविध अंगों का सम्यक् परिचय दीजिए। ११८

२७ 'खण्ड काव्य एवं मुक्तक' के पारस्परिक सम्बन्ध और अन्तर पर प्रकाश डालिए। १२३

३—उपन्यास : कहानी

२८ उपन्यास की विविध 'परिभाषाएँ' देते हुए उपन्यास और कहानी में अन्तर स्पष्ट कीजिए। १२३

२९ उपन्यास के 'प्रमुख तत्व' कौन-कौन से हैं उन पर संक्षेप में प्रकाश डालिए। १२६

३० कहानी की परिभाषा देते हुए उनके प्रधान तत्वों पर संक्षेप में प्रकाश डालिए। १३१

३१ कहानी और रेखाचित्र में अन्तर स्पष्ट कीजिए। १३४

३२ विविध मतों का उल्लेख करते हुए उपन्यास का विभिन्न आधारों पर वर्गीकरण कीजिए। १३६

३३ उपन्यास की कथावस्तु का विश्लेषण करते हुए अच्छे कथानक के गुण बताइए। १३८

३४ चरित्र-चित्रण उपन्यास का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। इस कथन को ध्यान में रखते हुए चरित्र-चित्रण के महत्व, प्रकार और विधियों पर संक्षेप में प्रकाश डालिए। १४६

प्रश्न सं०	पृष्ठ सं०

३५ वही उपन्यासकार उच्च कोटि के माने जाते हैं जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। प्रेमचन्द के इस कथन को ध्यान में रखते हुए उपन्यास में यथार्थ और आदर्श के सम्बन्ध में अपने विचार दीजिए। १५१

४—निबन्ध

३६ गद्य और पद्य के प्रधान अन्तर को स्पष्ट करते हुए निबन्ध का महत्व बताइए और उसकी परिभाषा तथा तत्वों पर भी प्रकाश डालिए। १५४

३७ गद्य काव्य में निबन्ध का क्या स्थान है? इसका महत्व प्रतिपादित करते हुए इसकी विभिन्न परिभाषाएँ देकर अपना निष्कर्ष प्रस्तुत कीजिए। १५४

३८ यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के इस कथन का विवेचन करते हुए निबन्ध का स्वरूप स्पष्ट कीजिए। १५५

३९ निबन्ध की परिभाषा के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत देते हुए उनके प्रमुख तत्वों का विवेचन कीजिए। १५५

४० निबन्धों के विविध भेदों का परिचय देते हुए उनकी शैलियों और शैलीगत विशेषताओं का संक्षिप्त परिचय दीजिए। अच्छी निबन्ध शैली के गुण भी संक्षेप में बतलाइए। १६०

४१ साधारण और ललित निबन्ध से क्या अभिप्राय है? निबंधों के प्रकारों को ध्यान मे रखते हुए स्पष्ट कीजिए। १६६

५—नाटक

४२ नाटक की परिभाषा पाश्चात्य एवं भारतीय मतों का संन्दर्भ देते हुए स्पष्ट कीजिए। साथ ही उसकी व्याख्या एवं महत्व का भी उल्लेख कीजिए। १६७

प्रश्न सं०		पृष्ठ सं०
४३	एकांकी के उद्भव एवं विकास को दृष्टि में रखते हुए नाटक से इसका भेद समझाइए।	१७१
४४	एकांकी नाटकों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का उल्लेख करते हुये उसकी कला एवं विधान की व्याख्या कीजिये।	१७६
४५	भारतीय एवं पाश्चात्य मतों के अनुसार नाटक के तत्वों का उल्लेख करते हुये नाटक की 'कथा' वस्तु के विभिन्न अंगों का सम्यक् परिचय दीजिये।	१७७
४६	नाटक के अन्तर्गत 'चरित्र-चित्रण' का स्वरूप, नाटक के नायक और पात्रों का उल्लेख करते हुए स्पष्ट कीजिये।	१८७
४७	नाटकों में 'कथोपकथन' की महत्ता प्रतिपादित कीजिए।	१९३
४८	नाटक में 'वातावरण' के तत्व पर भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करते हुए प्रकाश डालिए।	१९७
४९	'संकलनत्रय' से क्या अभिप्राय है? भारतीय आचार्यों के दृष्टिकोण का भी ध्यान रखते हुए समीक्षात्मक उत्तर दीजिए।	१९७
५०	नाटक के तत्वों मे विचार और उद्देश्य के तत्व का पाश्चात्य और भारतीय मतों का ध्यान रखते हुए संक्षिप्त विवेचन कीजिए।	२०५
५१	'नाटक में अभिनेयता' का तत्व कहाँ तक महत्वपूर्ण है? अभिनय के प्रकारों का संक्षिप्त परिचय देते हुये इस तत्व का मूल्यांकन कीजिये।	२०८

६—रेखाचित्र

५२	रेखाचित्र की परिभाषा दीजिये तथा कहानी और संस्मरण से उसका संबंध या इन सबकी पारस्परिक विभिन्नताओं का उल्लेख करते हुये रेखाचित्र के तत्वों पर प्रकाश डालिये।	२१३

प्रश्न सं०　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　पृष्ठ सं०

७—समालोचना

५३ 'समालोचना' की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए उसके उद्देश्य का स्पष्टीकरण कीजिये तथा आलोचक के गुण बताइये । २१९

५४ समालोचना कितने प्रकार की होती है ? उससे प्रमुख प्रकारों का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए । २२४

८—शैली

५५ शैली की परिभाषा दीजिये और उसके अनुसार शब्दों का महत्व तथा वाक्यों की विशेषता पर अपने विचार प्रकट कीजिए । २२९

५६ शब्द शक्ति के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए उसके प्रमुख भेदों—अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना—का संक्षिप्त परिचय दीजिए । २३७

५७ शैली में गुण, वृत्ति और रीति महत्व को स्पष्ट करते हुए उनका संक्षेप में परिचय दीजिए । २३७

५८ शैली में अलंकरण का क्या महत्व है ? संक्षिप्त उल्लेख कीजिए । २४१

५९ कविता में अलंकारों का क्या स्थान है ? युक्तिसंगत विवेचना कीजिए । २४१

६० शैली में पद-विन्यास का क्या महत्व है ? पद की व्याख्या देते हुए स्पष्ट प्रतिपादन कीजिए । २४६

प्रश्न १—साहित्य की परिभाषा देते हुए प्रेरणा के स्रोत एवं प्रयोजन का उल्लेख कीजिए।

मनुष्य जन्म से ही निरन्तर इस संसार के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने लगता है। इस जगत की अनेक वस्तुओं एवं क्रियाओं का उन पर प्रभाव पड़ता है, फलतः वह अपनी प्रतिक्रिया अवश्य व्यक्त करता है। ऐसा होने में सर्वप्रथम उसे वस्तु या क्रिया का ज्ञान होता है, तब उसके प्रति उसके मन में या तो खिंचाव पैदा होता है या उससे दूर हटने या रहने की इच्छा होती है और इसके अनुकूल वह प्रयास करने लगता है। इस प्रकार तीन प्रकार की मनोवृत्तियाँ कार्य करती हैं। ज्ञान के साथ ही साथ मनुष्य के भाव—हर्ष, दुख, आश्चर्य आदि भी जुड़े होते हैं। वस्तु, इन मनोवृत्तियों को ज्ञान, भावना और संकल्प कहते हैं। इच्छा में ही भावना और क्रिया का मेल होता है। इच्छा के बाद संकल्प आता है, जिससे क्रियाशीलता बढ़ जाती है।

उक्त मनोवृत्तियों के साथ ही मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों भय, क्रोध आदि का भी संयोग होता ही है। ऐसी ही एक प्रवृत्ति विशेष होती है, जिसे आत्माभिव्यक्ति (अपने हृदय के भावों एवं मस्तिष्क के विचारों की अभिव्यक्ति) कहते हैं। यों तो अभिव्यक्ति के अनेक ढंग हैं, किन्तु उन ढंगों में शाब्दिक अभिव्यक्ति का सबसे अधिक महत्व है इसका कारण यह है कि शाब्दिक अभिव्यक्ति अधिक स्थायी एवं सामाजिक होती है। दूसरे शब्दों में मनुष्य की शाब्दिक अभिव्यक्ति चिरकाल तक सुरक्षित रहती है जिसका उसके सामाजिक जीवन में अधिक महत्व होता है। वस्तुतः साहित्य में इसी अभिव्यक्ति का सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान है।

अपने उपर्युक्त विश्लेषण के समर्थन में डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों का उल्लेख करना हम समीचीन समझते हैं—

मनुष्य वाकशक्ति से सम्पन्न प्राणी है। अतः उसका अतीत का ज्ञान उसकी वाणी के रूप में सुरक्षित है और वर्तमान का अनुभव तथा ज्ञान

संक्रमणशील होता है—दूसरों को भी प्राप्त होता है और प्रभावित करता है। वाणी का वरदान पाकर ही मनुष्य प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ हुआ और इसी के आधार पर मानव-समाज का निर्माण और विकास हो सका है।

इसके आगे ही वही साहित्य की परिभाषा देने का प्रयत्न इन शब्दों में करते हैं—

'संगठन एवं विकास की अद्भुत क्षमता रखने वाले मानव की अमर वाणी वाङ्मय (Literature) के रूप में सुरक्षित है। युग-युग से श्रुति पद्धित पर या लिपि-बद्ध होकर जो वाणी सुरक्षित है। वह वङ्मय है। इसी वाङ्मय के ही पर्याय रूप में साहित्य शब्द का भी व्यवहार होता है।' आचार्य प० महावीर प्रसाद द्विवेदी के अनुसार—

'ज्ञान-राशि के संचित कोश का नाम साहित्य है।'

इसी 'साहित्य' शब्द के लिए संस्कृत के 'काव्य' शब्द का भी पर्याप्त प्रयोग किया गया है।

वाङ्मय और साहित्य यद्यपि पर्याय रूप से प्रयुक्त होते हैं, किन्तु उनमें सूक्ष्म अन्तर है। वाङ्मय शब्द व्यापक अर्थ का बोधक है और साहित्य संकुचित अर्थ का द्योतक। बात यह है कि वाङ्मय के भीतर मौखिक परम्परा का ज्ञान भी सम्मिलित हो जाता है किन्तु साहित्य में ऐसा नहीं है। उसमें तो ज्ञान एवं अनुभव का लिपिबद्ध रूप ही आता है। अतः डा. भागीरथ मिश्र के शब्दों में 'वाङ्मय के द्वारा प्रकाशित समस्त अनुभव और ज्ञान है (तथा) साहित्य मनुष्य के अनुभव और ज्ञान का वह रूप है जो लिपिबद्ध होकर हमारे सामने आता है या सुरक्षित रहता है।

किन्तु 'गुलाब' रायजी वाङ्मय का पर्याय रूपमें साहित्य का प्रयोग साहित्य के व्यापक अर्थ के रूप में ग्रहण करते हैं और कहते—व्यापक अर्थ में साहित्य सारे वाङ्मय का पर्याय है। जितना शब्द-भण्डार और वाणी का विस्तार है, सब इसके अन्तर्गत आ जाता है। 'वास्तव में इसी अर्थ में साहित्य का प्रयोग अधिक समीचीन कहा जा सकता है। यहाँ ध्यान

देने की बात यह कि सामान्यत: अँग्रेजी के (Literature) शब्द का प्रयोग भी इसी व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है, जो साहित्य का पर्याय है। किन्तु डा० मिश्र का कथन है उसमें यह सत्य है कि साहित्य का लिपिबद्ध होना सर्वथा वांछनीय है, यद्यपि वह मौखिक भी हो सकता है।

'काव्य' शब्द का साहित्य के पर्याय रूप में जो प्रयोग किया गया है, इस सम्बन्ध में गुलाबराय जी का कहना है कि 'साहित्य अपने संकुचित और रूढ़ अर्थ में काव्य का पर्याय बन जाता है। ·····साहित्य का व्यापक अर्थ उसकी व्युत्पत्ति के अर्थ पर आश्रित है और संकुचित अर्थ रूढ़ि पर अवलम्बित है।'

अतएव, यहाँ 'साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति' पर दृष्टि डालना अपेक्षित है,

'साहित्य' शब्द का अर्थ है सहित होने का भाव—'साहित्यस्य भाव: साहित्य'। 'सहित' शब्द का इसमें दो अर्थ होता है—

१—'साथ होना' और

२—'हितेन सह सहितं', यानी 'हित के साथ होना।'

उक्त अर्थ में पहले को प्रधान मानकर कहा जा सकता है कि जब शब्द अर्थ विचार और भाव यदि परम्परा के अनुकूल सहभाव रखते हैं, तो इसे साहित्य कहते हैं। यह सहभाव स्वाभाविक ही होना चाहिए।

यदि दूसरे अर्थ को प्रधान मानें, तो कह सकते हैं कि 'साहित्य वही है जिससे मानव-हित का सम्पादन हो।'

अत: गुलाबरायजी ने उक्त दो दोनों का ध्यान रखते हुए साहित्य की परिभाषा यों दी है—

'साहित्य संचार के प्रति हमारी मानसिक प्रतिक्रिया अर्थात् विचारों भावों और संकल्पों की शाब्दिक अभिव्यक्ति है और वह हमारे किसी-न-किसी हित का साधन करने के कारण संरक्षणीय हो जाता है।''

साहित्य के हितकारी और संरक्षणीय होने का भाव अंग्रेजी के (Literature) शब्द में भी है। यह शब्द (Letters) (अक्षरों) से बना है। अत: अक्षरों का जहाँ तक विस्तार हो, वहाँ तक सब 'लिटरेचर'

जायगा 'अरबी' भाषा में साहित्य का पर्याप्त शब्द—'अदल' जिसका अर्थ है—शिष्टता ।

उक्त विश्लेषण के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य की वाणी द्वारा शिष्ट हितकारी एवं स्वाभाविक अर्थ के साथ उसके भावों विचारों एवं संकल्पों की जो अभिव्यक्ति होती है साहित्य की संज्ञा से अभिहित की जाती है । यद्यपि आरम्भ का साहित्य लिपि के आविष्कार के पूर्व मौखिक ही रहा तथापि अभिव्यक्ति के लिपिबद्ध रूप को ही आज साहित्य समझा जाता है और उसे सुरक्षित रखने का उपाय किया जाता है ।

साहित्य की परिभाषा एवं व्याख्या की सीमा न ही उसकी 'प्रेरणा के श्रोत' स्पष्ट किए जा चुके हैं और प्रयोजन भी बताया जा चुका है । इसे संक्षेप में अलग से यों कह सकते हैं कि साहित्य के प्रेंरणा के श्रोत संसार की वस्तुओं और क्रियाएँ हैं जिनके प्रभाववश मनुष्य अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है । ऐसा करने में उसका प्रयोजन न केवल अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करना ही होता है, अपितु यह प्रयोजन भी होता है कि वह आत्माभिव्यक्ति द्वारा समाज के अन्य मनुष्यों को भी प्रतिक्रिया व्यक्त करने का प्रोत्साहन दे । ऐसा करने से अनुभव एवं ज्ञान दूसरों को प्राप्त होता है, परम्परा तक जीवित रहता है और विकासमान तथा गतिशील होता । सभ्यता और संस्कृति के मूल में यही प्रयोजन प्रधान है । मानवीय विकास की प्रत्येक दिशा में इसका अधिक महत्व है । वास्तव में साहित्य का प्रयोजन ही लोक मंगल है । इसीलिए उसे जीवन को आनन्दमयी अभिव्यक्ति कहते हैं ।

इसमें काव्य का उद्देश्य प्रभावित करना और शास्त्र का उद्देश्य सिखाना है । इसका समर्थन Scot James ने The Making of Literature में इस प्रकार किया है—

The function of the first is to teach; the function of the second is to move.

उक्त दृष्टिकोण से ही साहित्य के दो विभाग करके उसके उद्देश्य

एवं प्रयोजन को स्पष्ट किया गया है। वे दो विभाग हैं–

(१) काव्य और (२) शास्त्र।

काव्य में 'रस' की प्रधानता है और 'ज्ञान' की 'डी क्विंसी' नामक पाश्चात्य विद्वान ने भी ऐसा ही विभाग किया है—

१—Literature of Knowledge (शास्त्र)

२—Literature of Power। (काव्य)

प्रश्न २—साहित्य के साथ 'समाज और नैतिकता' का क्या और कहाँ तक सम्बन्ध है ? संक्षिप्त में उत्तर दीजिए।

साहित्य एवं समाज का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है साहित्य का समाज पर प्रभाव पडता है।

साहित्य पर समाज का प्रभाव देखें, तो स्पष्ट होगा कि समय रूप से समाज के ही भावों, विचारों एवं संकल्पों की अभिव्यक्ति साहित्य मे विद्यमान होती है,—साहित्यकार अपने युग एवं समाज का प्रतिनिधि होता है और उसकी कृति मे–साहित्य रचना-समाज के भीतर बिखरे भाव या विचार की अभिव्यक्ति होती है। यही कारण है कि साहित्य को समाज 'समाज का दर्पण' कहा गया है। इसके मूल में यही बात है कि समाज के भावों एवं विचारों का स्पष्ट चित्र साहित्य ही मुखरित एवं प्रतिबिम्बित होता है। साहित्यकार समाज के द्वारा जो कुछ ज्ञान एवं अनुभव प्राप्त करता है, उसे वह समाज का मस्तिक, हृदय और मुख बनकर व्यक्त करता है।

साहित्यकार में सामान्य जन की अपेक्षा प्रतिभा एवं अनुभूतिअधिक सशक्त और ग्रहणशील होती है, अत: समाज के भावों एवं विचारों को जब कभी व्यक्त करता है, उसमें सजीवता एवं सबलता निश्चित रूप मे आ जाती है। कला के साँचे में साहित्यक परिधि में सँवारी हुई, सामाजिक भाव या विचार की मूर्ति आदर्श होती है, जो समाज के उत्थान एवं विकास का कारण बनती है। इस दृष्टि से साहित्यकार समाज का उत्थान करने बाला और इतिहास का निर्माता होता है। उसकी कृतियों में समाज का आदर्श और यथार्थ से समन्वित चित्र तो प्रतिबिम्बित होता

ही है, साथ ही समाज को दिशा-दृष्टि भी मिलती है।

साहित्यकार के माध्यम से ही समाज के हृदय तक पहुंचा जा सकता है। साहित्य के द्वारा ही इस बात का भी ज्ञान होता है कि किन परिस्थितियों से समाज प्रभावित होता है और वातावरण में नवीन स्थिति आ जाती है इसीलिए यह तथ्य स्मरणीय है कि, 'समाज के प्रतिनिधि स्वरूप कवियों और लेखकों के विचार ही संग्रहीत हो साहित्य बनते हैं।

—गुलाबराय

इसी क्रम में यह तथ्य सामने आ जाता है कि 'प्रत्येक जाति के साहित्य का एक व्यक्तित्व होता है। यद्यपि मानव हृदय एक सा ही है। यद्यपि प्रत्येक जाति साहित्य की अपनी विशेषता होती है। केवल इतना ही नहीं वरन् एक जाति के ही साहित्य में उसके विकास के अनुकूल समय समय पर अन्तर पड़ता रहता है।' —गुलाबराय

इसी प्रकार समाज भी साहित्य से प्रभावित होता है। साहित्यकार किसी न किसी रूप में समाज प्रतिनिधित्व करता है और समाज को अपनी प्रतिभा तथा व्यक्तित्व द्वारा नये भाव एवं विचार भी देता है। इस तरह साहित्यकार एवं समाज के भावों-विचारों का आदान-प्रदान तथा क्रिया-प्रतिक्रिया का भाव दृष्टिगत होता है। वास्तव में सामाजिक विकास का यही रूप है।

समाज के जो भाव अव्यक्त होते हैं, साहित्य उन्हें व्यक्त करता है समाज को प्रभावित करता है समाज के विचार ही साहित्य में साकार होकर समाज को दिशा देते हैं आगे बढ़ते हैं, साहित्य में सन्जीवनी शक्ति आती है, परिवर्तन आता है तथा नवनिर्माण का मार्ग प्रशस्त होता है। साहित्य पतन से उत्थान की ओर ले जाने का अमर साधन बनता है। साहित्य के आदर्शों की रक्षा होती है और समाज उन आदर्शों के बल पर जीवित एवं विकासमान होता है। साथ ही साहित्य से समाज का मनोरंजन भी होता है। जीवन में सरसता का संचार होता है। साहित्य में समाज का संगठन एवं जातीय एवं राष्ट्रीय जीवन को गर्व प्राप्त होता है।

साहित्य के द्वारा समाज में एक–सांस्कृतिक एवं भावात्मक एकता –की नींव परिपुष्टि होती है ।

अतः गुलाबराय के शब्दों 'साहित्य हमारे समाज का प्रतिबिम्ब ही नहीं वह उसका नियामक और उन्नायक भी है ।'

डा० भगीरथ मिश्र ने भी साहित्यिक उत्थान के प्रेरक सामाजिक तत्व' के प्रकरण में कहा है–'साहित्य और समाज का अटूट सम्बन्ध है । समाज की जीवन धारा में साहित्य का कमलवत् विकास होता है; समाज के तर्क का परिणाम साहित्य का नवनीत है; समाज शरीर का मुख साहित्य है ।··· ··वह समाज की बुद्धि का परिणाम और अनुभव एवं अनुभूति का सार है । साहित्य समाज की चिरस्थायी सृष्टि है ।

अन्त में उपसंहार में वे कहते हैं :—

'साहित्य के उत्थान के लिए प्रेरक उसका सामाजिक दृष्टिकोण है और उसके सहायक सामाजिक तत्व हैं–सत्य, मानवता, निर्मल चरित्र, सौंदर्य, भव्यकल्पना, भावुक व्यंग और लीकानुभाव की अभिव्यक्ति।······ इन सामाजिक तत्वों में युक्त होकर साहित्य उत्थान को प्राप्त करता है । ऐसा साहित्य समाज का भी उत्थान करता है ।

साहित्य और नैतिकता····के पारस्परिक सम्बन्धों की सीमा में हमें उपयुक्त विवेचन पर ध्यान देना समीचीन लगता है । उक्त विवेचन में यह कहा गया है कि साहित्य पतन से उत्थान की ओर ले जाने का अमर साधन है । साहित्य से आदर्शों की रक्षा होती है और समाज उन आदर्शों के बल पर जीवित ही नहीं रहता है, वरन् विकास भी करता जाता है । दूसरे शब्दों में, साहित्य समाज का नियमन तथा उत्थान करता है ।

कला के प्रयोजन के सन्दर्भ में अधिकांश विद्वानों ने यह बताया कि कला जीवन के लिए होनी चाहिए । इसका अर्थ यह है कि साहित्य में लोकहित की भावना सर्वश्रेष्ठ है । लोकहित की भावना से जिस साहित्य की रचना होगी, वही साहित्य कहा जा सकेगा, नहीं तो वह 'घासलेटी' साहित्य—निकृष्ट साहित्य कहा जायगा । हम तो, उसे साहित्य

को, जो लोकहित के विरुद्ध देने वाला अथवा अश्लील अभिव्यक्ति वाला हो, उसे साहित्य की निकृष्टतम परिधि में भी नहीं रखना चाहते। उसे चाहे और भले ही कह लिया जाय, कम से कम उसके साथ साहित्य शब्द जोड़कर साहित्य की पवित्रता एवं मर्यादा को कलंकित न किया जाय हम यह देखते हैं कि आजकल उन सभी कृतियों को जिनमें आदर्शों के बिपरीत, मर्यादा के विरुद्ध, दूषित एवं पतनोन्मुख संस्कारों से पूर्ण अश्लील अभिव्यक्ति है, साहित्य ही कह दिया जाता है, भले ही 'अश्लील कहा जाय, परन्तु मेरी दृष्टि में यह भी अनुचित ही है।

वास्तव में, जो साहित्य जीवन को उत्कर्ष की ओर ले जाने वाला उसका आधार नैतिकता की नीव ही हो सकेगी। अनैतिक आधार पर तो कभी भी ऐसे साहित्य की रचना हो ही नहीं सकती, जो समाज, जाति और राष्ट्र अथवा सम्पूर्ण मानव जाति का कल्याण कर सके। यही कारण है कि साहित्य में 'सयत्म् शिवम और सुन्दरम्' की प्रतिष्ठा की गयी है। इसका सीधा-साधा अभिप्राय यह है कि सत्य, कल्याणकारी और सुन्दर की ही अभिव्यक्ति, साहित्य में सर्वथा वांछनीय है। स्पष्ट है कि सत्य शिव और सुन्दर के मूल में नैतिकता ही है। क्या यह सम्भव है कि अनैतिकता क्रिया या भाव विचार कभी सत्य की कोटि में आ सकता है। हमारे लिए कल्याणप्रद हो सकते हैं और हमें सुन्दर की ओर अग्रसर कर सकते हैं ? हम समझते हैं-इस प्रश्न का उत्तर कभी 'हाँ' में दियो जा सकता है ?

अतः यह कहना अनुचित न होगा कि साहित्य-सार्जन की प्रेरणा नैतिक क्रिया व्यापारों से ही ग्रहण की जाती चाहिए, अभिव्यक्ति पद्धति तो सर्वथा हमारी नैतिक मर्यादा की अपेक्षा रखती ही है। मानवीय आदर्शों को आदर्श रूप में प्रस्तुत करना ही साहित्य का लक्ष्य होना चाहिए।

प्रश्न २—'साहित्य तथा विज्ञान' का पारस्परिक सम्बन्ध संक्षेप में स्पष्ट करते हुए दोनों की सीमा निर्धारित कीजिए।

साहित्य के मूल में आनन्द को प्रमुख स्थान प्रदान किया गया है। इस प्रसंग में यह तो स्पष्ट ही है कि यह आनंद जड़ पदार्थों का विषय

नहीं है बल्कि यह आनन्द चेतन एवं आत्म प्रधान भावों की अभिव्यक्ति है, यह आत्मभाव काव्य को विज्ञान से अलग करता है।'

विज्ञान के सम्बन्ध में यह हमें स्मरण रखना चाहिए कि विज्ञान अपने बाहरी साधनों से, जिस वस्तु का जिस प्रकार निरीक्षण करता है और जो तथ्य निकालता है, उसको उसी रूप में—यथातथ्य वर्णित कर देता है। इस प्रकार विज्ञान के वर्णन को इतिवृत्तात्मक (Matter of facts) कहा जाता है। विज्ञान का ध्येय यह कभी नहीं होता कि वह असुन्दर को सुन्दर अथवा अशिव को शिव बनाकर प्रस्तुत करें। किन्तु साहित्य की वह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह सर्वदा असुन्दर और अशिव को शिव के रूप में प्रस्तुत करता है। साहित्य' 'सत्य ब्रूयात् मा ब्रूआत सत्यंप्रियम्' अर्थात् 'सत्य बोलो किन्तु इस तरह बोलो कि प्रिय लगे, अप्रिय सत्य कभी न बोलो, का पक्ष ग्रहण करता है। सारांश यह है कि विज्ञान का उद्देश्य है—यथार्थ के रूप में प्रस्तुत करना, आदर्श की ओर देखना उसके लिए वांछनीय नहीं; किन्तु साहित्य यथार्थ को तो ग्रहण तो करता है—क्योंकि वस्तु तथ्य को ग्रहण किये बिना वह प्रस्तुत ही करेगा ? —पर यथार्थ के ग्रहण के साथ ही साथ वह आदर्श को कभी छोड़ न पाता यदि छोड़ दे, तो उसका उद्देश्य ही समाप्त हो जायगा।

विज्ञान का क्षेत्र स्थल का अध्ययन है और साहित्य का क्षेत्र सूक्ष्म का अध्ययन, दोनों की मान्यताएँ पृथक्-पृथक् हैं। विज्ञान प्रकृति के विविध अंगों का—अचेतन पदार्थों का—अध्ययन करता है और मनुष्य को भी रक्त मज्जा-मांस से युक्त एक पिण्ड के रूप में प्रकृति का ही एक अंग मानता है और इसी के कारण भौतिक शास्त्र एवं प्राणि-शास्त्र की सीमा में ही वह मनुष्य शरीर का अध्ययन करता है; उसे मनुष्य की आत्मा, हृदय और मस्तिष्क के सूक्ष्म तत्वों से कोई मतलब नहीं—हृदय एवं मस्तिष्क की रचना प्रक्रिया का वह स्थल अध्ययन तो कर लेता है, पर आत्मा तो उसके स्थल अध्ययन से भी परे है। साहित्य का क्षेत्र मानव हृदय

मस्तिष्क और आत्म-जगत है 'गुलाबराय' जी के शब्दों में—"साहित्य और काव्य मनुष्यों के आत्म-प्रधान भावों की अभिव्यक्ति हैं। यही आत्मभाव काव्य विज्ञान से अलग करता है।"

प्रकृति को भी साहित्य अपनी ओर देखता है। अर्थात् उसके भावमय स्वरूप को वह ग्रहण करता है। साहित्य की दृष्टि में, प्रकृति की सीमा में जो भी क्रिया-कलाप होते हैं, उनका रहस्य गुप्त है, जिसे सहृदय ही अनुभव कर सकता है। प्रकृति के पास भी स्पंदनशील हृदय है और वह भी अपना हर्ष-विषाद सहृदय व्यक्ति के सम्मुख निस्संकोच रूप में प्रकट करती है। उदाहरण के लिए, पुष्प-कली खिलकर मानों भ्रमर को अपने नवयौवन के प्रति-रसपान के लिए—आकर्षित करती है, आमंत्रित करती है। भला! विज्ञान में ऐसी अनुभूति कब सम्भव है। वह तो कली से फूल बनने की भौतिक क्रिया का ही अध्ययन-विवेचना करतारह जायेगा। जो फूल वैज्ञानिकों की दृष्टि में विविध भौतिकतत्वों के मेल से बना हुआ एक जड़ पदार्थ मात्र है, और जिसे समझने के लिए वह उसके सौंदर्य को नष्ट कर देता है; वही फूल साहित्यकार के लिए अपने सुन्दर रूप से लोकोत्तर आनन्द का प्रतिपादन करता है। दूसरे शब्दों में वैज्ञानिक कभी साहित्यकार की दृष्टि से नहीं देख पाता और न उस प्रकार की अनुभूति ही कर पाता है; वह तो गुण को भी परिणाम का परिवर्तित रूप मानता है।

डा० श्याम सुन्दरदास के शब्दों में 'साहित्य का जगत भावना और कल्पना का जगत् है और विज्ञान का जगत, बुद्धि वैभव का जगत है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि विज्ञान में भावना और कल्पना की आवश्यकता ही नहीं पड़ती अथवा साहित्य में बुद्धि वैभव का कुछ स्थान ही नहीं है। वास्तव में दोनों का पारस्परिक संबन्ध घनिष्ठ है।

उक्त तथ्य समझते हुए यह कहना युक्त संगत होगा कि साहित्य को मानव जीवन की विकसित बुद्धि का उपयोग करना चाहिए, लाभ उठाना चाहिए, नहीं तो साहित्य की योग्यता में अभाव रह जायेगा। ठीक इस तरह, विज्ञान को विकसित मानव भावनाओं के अनुरूप उपयोगी बनना

चाहिए, लाभकारी और कल्याणप्रद होना चाहिए। संसार के सभी देशों में–जहाँ सभ्यता का समुचित विकास हुआ है–विज्ञान और साहित्य कन्धे से कन्धा मिलाकर चलते हैं। निश्चय ही, इन दोनों के इसी समन्वय से मानव-मात्र का अधिक भला हो सकता है। अतः दोनों को एक दूसरें का सहारा ग्रहण करते हुए उन्नति करनी चाहिए।

किन्तु उक्त विवेचना के साथ ही हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि साहित्य और विज्ञान दोनों में मौलिक अन्तर है, जैसा कि पूर्व परिच्छेदों में स्पष्ट किया गया है। यही कारण है कि दोनों स्वतन्त्र विधाएं हैं। इसी तथ्य का समर्थन डा० श्याम सुन्दर दास अपने साहित्यालोचन में इस प्रकार करते हैं।

वैज्ञानिक तो वस्तुओं के रूप, आकार, रचना, गुण स्वभाव और संबन्ध पर विचार करता है; उन्हें परस्पर मिलाता वर्गीकरण करता तथा उन कारणों और क्रियाओं का पता लगता है, जिनके अधीन होकर वे अपना वर्तमान रूप धारण करती हैं। इस प्रकार स्पष्ट ही विज्ञान-शास्त्री के क्रियाकलाप में बौद्धिक अन्वेषण और सिद्धांत निरूपण की ही प्रधानता होती है। दर्शनशास्त्र, रसायन, भूगर्भ आदि अनेक शास्त्र विज्ञान की ही कोटि में आवेंगे।'····विज्ञान का प्रत्येक आचार्य जगत के रूप का विषयात्मक विचार करता है और एक-एक प्राकृतिक तत्व को मिलाकर सादृश्य के आधार पर कई वर्ग स्थापित करता और छोटे-छोटे वर्गों से एक बड़ा वर्ग स्थापित करता है। इस प्रकार वह सृष्टि शृंखलता और कर्मशीलता स्थापित करने का उद्योग करता है। विज्ञान का उद्देश्य पदार्थों की क्रमबद्ध, बुद्धिसंगत और सहेतुक व्याख्या करना है, जिसके अन्तर्गत उसके गुण, उद्भव और इतिहास की व्याख्या रहती है, जो कार्य कारण संबन्ध तथा प्राकृतिक नियम के आधार पर की जाती है। इसके अतिरिक्त जो कुछ बच जाता है, उससे विज्ञान का न कोई सम्बंध है, न प्रयोजन।'

उपर्युक्त स्पष्टीकरण का अन्तिम वाक्य इस बात की ओर संकेत

करता है कि वैज्ञानिक व्याख्या के बाद बहुत कुछ बच रहता है और जीवन रहता है उससे साहित्य का बहुत घनिष्ट संबन्ध है। हमें संसार के दैनिक व्यवहार में यह दृष्टिगत होता है कि पदार्थों और घटनाओं के वास्तविक रूप और उनके कार्य-कारण के प्रति हम आर्कषित होते हैं, जिससे न केवल हमारी बुद्धि ही उत्तेजित होती है, बल्कि हमारे मनोवेग भी उत्तेजित होते हैं। जब विज्ञान का अध्ययन किया जाता है, तब हम इस सृष्टि की सारी प्राकृतिक घटनाओं को एक समष्टि के रूप में देखते हैं और उनका निरीक्षण, वर्गीकरण तथा कार्यकरण ढूंढ़ना ही हमारा एक मात्र कर्तव्य होता है। दूसरे शब्दों में वैज्ञानिकों का लक्ष्य कुछ सिद्धांतों पर पहुँचना होता है और उनका कार्य वहीं समाप्त हो जाता है; परन्तु साहित्य का लक्ष्य उससे अलग होता है। इसका यह अर्थ नही है कि साहित्य में सिद्धांत की सर्वथा अवहेलना की जाती है या उसमें कुछ सिद्धांत होने ही नहीं अथवा वैज्ञानिकों के सिद्धांतों का साहित्यकार पर कुछ प्रभाव ही नहीं पड़ता, वास्तव में, सिद्धांत-निरुपण साहित्य का कार्य नहीं है।

जब विज्ञान वस्तुओं और घटनाओं के सम्बन्ध में पूरा-पूरा समाधान करने वाला कारण बता देता है, तब भी हम उसकी विचित्रता और सुन्दरता से प्रभावित होते ही हैं। यही साहित्य की भूमि है। कैसी ही स्पष्ट वैज्ञानिक व्याख्या क्यों न हो, वह हमारे इस प्रभाव को निर्मूल नहीं कर करसकती। उल्टे ही इस प्रभाव को उत्कर्ष की ओर ले जाने का कारण बन जाती है। सामान्य रूप में संसार की अद्भुतता और सुन्दरता का जो अनुभव हमें होता है, वह कुछ अस्पष्ट और कुण्ठित सा होता है। पर जब हमारी संवेदना उत्तेजित हो उठती है और हमारी कल्पना कार्यशील हो जाती है, तब यही अनुभव अधिक स्पष्ट और प्रभावकारी हो जाता है। फलस्वरूप हमारे अन्दर आश्चर्य, आनन्द. कृतज्ञता, आदर-मान आदि का उद्रेक होता है। विज्ञान के विकास के साथ-साथ हमारे इस आनन्द, आश्चर्य, कृतज्ञता आदि का स्वरूप बदलता रहता है, पर मूल में उसका रूप वही रहता है।

अत: डा० दास के ही शब्दों में, 'इस दृष्टि से साहित्य चिर नवीन भी है और चिरन्तर भी। हम उसे प्राचीन और नवीन का तारतम्य निरूपति करने में एक मात्र समर्थ मानते हैं।' यही कारण है कि जातियों के इतिहास की सुरक्षित निधि साहित्य के अमर भण्डार के अन्तर्गत ही मिलती है, अन्यत्र नहीं। राष्ट्रों के जीवन के उत्थान-पतन की कहानी साहित्य में ही सुरक्षित होती है; उसकी आशाएँ आकांक्षाएँ साहित्य में चित्रित होती हैं इसीलिए साहित्य को 'समाज या मानवता का दर्पण' कहा गया है।

इस संसार में विभिन्न जातियां बनी विकसित हुईं और मिट गयीं और आज उनकी कृतियों का पता नहीं। परन्तु साहित्य में उनका अस्तित्व आज भी है विज्ञान का एक आविष्कार आज होता है। और कल उससे अधिक उपयोगी या अधिक सार्थक आविष्कार होता है। परिणाम यह होता है कि आज की बात कल समाप्त हो जाती है, उसका प्रयोजन भी नष्ट हो जाता है—साहित्य में ऐसी स्थिति नहीं होती। उसमें किसी के नष्ट होने का प्रश्न ही नही पैदा होता। साहित्य तो सबके हित-सहित की भावना लिये हुए सतत जाग्रत रूप में विद्यमान रहता है। डा० दास ने ठीक ही कहा है कि 'साहित्य की यह सार्वभौमिकता कभी भुलाई नहीं जा सकती। मनुष्य समाज की यह अक्षय निधि नित्यप्रति हमारे व्यवहार के लिए खुली हुई है।'

सारांश यह है कि साहित्य और विज्ञान का परस्पर घनिष्ठ संबन्ध है, किन्तु दोनों विषय, रचना-प्रक्रिया और उपयोगिता की सीमाएं पृथक्-पृथक् हैं; दोनों के क्षेत्र में पर्याप्त अलगाव है। इस दृष्टि से हमें दोनों के समन्वय पर ध्यान देना चाहिए और दोनों के विकास की ओर उन्मुख रहना चाहिए। साहित्यकार और वैज्ञानिक, साहित्य और विज्ञान—दोनों को शिवत्व प्रदान ही श्रेयस्कर है।

प्रश्न ४-साहित्य और कला के परस्पर सम्बन्ध का स्पष्टीकरण कीजिए।

कला और साहित्य के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए सर्वप्रथम हम देखने का प्रयत्न करेंगे कि वस्तुतः कला और साहित्य की रचना किन आधारभूत तत्वों को ग्रहण करती हुई और अपना स्वरूप प्राप्त करती है। साथ ही कला और साहित्य के प्रयोजन पर भी दृष्टि-पात करना आवश्यक होगा।

यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य सचेतन प्राणी है यानी उसमें चेतना की प्रधानता है, जिसके फलस्वरूप वह अपने चारों की सृष्टि का—उसके समस्त क्रिया-कलापों का अनुभव करता है और उससे प्रभावित होता है। डॉ० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में 'वासना-रूप में उसमें (मनुष्य में) भिन्न-भिन्न वस्तुओं के छाया-चित्र अंकित होते रहते हैं। और तदनुकूल ही उसके संस्कार बनते रहते हैं।' आदिकाल से अब तक—सभ्यता के विकास साथ-साथ- मानव-चेतना और उसके संस्कारों तथा वृत्तियों का क्रमिक विकास होता रहा है। इस क्रम से मनुष्य की चेतना पर वाह्य सृष्टि विविध वस्तुओं की छाप पड़ती रही है और साथ-साथ उसमें भिन्न-भिन्न प्रभावों को अभिव्यक्त करने की शक्ति का उदय एवं विकास भी होता रहा है।

अभिव्यक्ति की शक्ति, अनिवार्य रूप से मानव-शरीर एवं मानस की संघटता के मूल में विद्यमान है। मनुष्य की अन्तरात्मा वाह्य सृष्टि को जिस रूप में ग्रहण करती हैं, उसे उसी रूप में अभिव्यक्ति करना चाहती है। डॉ० दास के शब्दों में—वाह्यसृष्टि मनुष्य पर दुख-सुख, रूप-विरूप, हित-अहित आदि की जो भावनाएँ उत्पन्न करती हैं, उनको अभिव्यंजित करना मनुष्य के लिए अनिवार्य सा है। मानव-मस्तिष्क का निर्माण ही कुछ इस प्रकार से हुआ है कि वह अपनी इस प्रवृत्ति को रोक नहीं सकता।"

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, मनुष्य अभिव्यक्ति या अभिव्यंजना की शक्ति क्रमशः विकास करती गयी है। फलतः उसी क्रम में अभिव्यंजना की भिन्न-भिन्न विधियाँ भी प्रतिष्ठित होती गयीं। अभिव्यंजना की इन्हीं विधियों को कला कहा गया। किन्तु डॉ० दास के अनुसार

"···यद्यपि अभिव्यंजना को ही 'कला' का नाम दिया गया है। तथापि सम्पूर्ण अभिव्यन्जना 'कला' नहीं है।" इस कथन का अभिप्राय यह है कि मनुष्य जो कुछ भी अभिव्यक्त करता है, वह सब 'कला' की सीमा हैं कभी भी ग्रहण नहीं किया जा सकता। इस तथ्य को समझने के लिये यह बात ध्यान देने की है कि मनुष्य न केवल अभिव्यक्ति में ही समर्थ है, वरन् वह अपनी अभिव्यक्ति की मीमांसा या विश्लेषण करने, उसके नियम निर्धारण करने और उसके श्रेणी-विभाजन या वर्गीकरण करने में भी समर्थ होता है। वह केवल कलाकार ही नहीं, दार्शनिक भी होता है। वह अपने सूक्ष्म-दर्शन से सृष्टि-चक्र के सम्बन्ध में अनेक प्रकार से विवेचन विश्लेषण और वर्गीकरण करता है। वह सूक्ष्म रूप में अनेक प्रकार के सिद्धांत व्यक्त करता है। जो उपदेश के रूप में ज्ञान की सामग्री बन जाते हैं। इस प्रकार दर्शन-शास्त्र की प्रतिष्ठा होती है, और है। विविध वैज्ञानिक तत्वों का निरूपण भी इसी तरह होता है।

किन्तु, वैज्ञानिक तथ्यों और दार्शनिक सिद्धान्तों के वर्णन को कला नहीं कहा जा सकता; यद्यपि यह सत्य है कि ये भी अभिव्यंजना के ही अंतर्गत आते हैं। इसी तरह तर्कशास्त्र की अनेक पद्धतियों और प्रतिक्रियाओं को भी 'कला' की सीमा मे ग्रहण नहीं किया जा सकता। क्योंकि, डा० दास के शब्दों में 'कला का सम्बन्ध नियमों से नहीं है वह तो रूप की अभिव्यक्ति मात्र है।' इसी तथ्य को आगे और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, 'बाह्य जगत की भिन्न-भिन्न वस्तुओं का एक-एक वस्तु का—जैसा प्रतिबिम्ब मानस-मुकुर पर पड़ता है, कला का सीधा सम्बन्ध उसी से है। वह सदैव व्यष्टि से सम्पर्कित रहती है। नियम-निर्माण और सिद्धांत समुच्चय उसकी सीमा से बाहर है।' इतिहास का क्षेत्र भी कला का ही क्षेत्र कहा जायेगा, क्योंकि उसमें भी नियमों का निरूपण नहीं होता, वरन् व्यक्तियों का चरित्र चित्रण किया जाता है। पर, यह स्मरणीय है कि इतिहास केवल स्थूल और घटित घटनाओं तथा वास्तविक व्यक्तियों का ही चरित्र होता है, उसमें यद्यपि कल्पना का पुट किसी न किसी मात्रा में

अवश्य रहता है पर कलाओं की भाँति इतिहास में कल्पना की अवधि गति नहीं पायी जाती है। इस प्रकार कला की व्यापकता इतिहास की अपेक्षा अधिक है।

डॉ० श्यामसुन्दर दास का कहना है कि 'कलाओं के अन्तर्गत सृष्टि के समस्त वास्तविक और काल्पनिक क्रिया-कलापों की व्यंजना की जा सकती है मनुष्य की अनुभूतियों कल्पनाओं और उसमें सम्पूर्ण ज्ञान की एक बृहदांश कला का विषय बन सकता है। भिन्न-भिन्न वैज्ञानिक अनुसंधानों दार्शनिक तथ्यों तथा तार्किक सरणियों के सांगोपांग वर्णन भी कला के ही घेरे में आते हैं। न्याय-शास्त्र के नियम कला नहीं कहे जा सकते। पर वे इस प्रकार सजाकर उपस्थित किये जा सकते हैं कि उनमें कला दीख पड़े सारांश यह कि मनुष्न की भावनाओं का जहाँ तक विस्तार है, वह सब कला का विषय है और यह तो विदित ही है कि मानव भावनाओं का बिस्तार, विराट और प्राय: सीमा-रहित है।'

इस दृष्टि से कला का क्षेत्र और उसका स्वरूप व्यापक ही नहीं, असीम है। मनुष्य के भावनाओं की अभिव्यक्ति ही कला के मूल में है। कला की परिभाषाएं जो विविध कलाकारों और विचारकों द्वारा प्रस्तुत की गयी हैं, इसी को मूल रूप में प्रकट करती है।

१–'नव-नव स्वरूप प्रथोल्लेख संवितओं में स्वर की आत्मा को परिमित रूप में प्रकट करती है इसी रूप का नाम कला है।' —प्रसाद

२–'अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही कला है।' —गुप्त

३–'कला कालाकार के आनन्द की श्रेय और प्रेम तथा आदर्श और यथार्थ को समन्वित करने वाली प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है।'

—गुलाबराय

४–'कला में मनुष्य वाह्य वस्तुओं की ही नहीं, स्वानुभूति की अभिव्यक्ति करता है।' —रवीन्द्र

१–'अरस्तू' कला को 'अनुकृति (Art is imitation) मानता है। इसका आशय यह है कि प्रकृति के अभाव की मानसिक कल्पना से

पूरा किया जाता है, यही कला है।

२—'क्रोचे' के अनुसार 'अभिव्यक्ति ही कला है।'

३—'हेगिल' का मत है कि 'प्राकृतिक सौन्दर्य ईश्वर का आभास है और कला उसी आभास की पुनरावृत्ति है।'

४—'फ्रॉयड' के मतानुसार कला दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति है।

इन परिभाषाओं से जहाँ एक ओर यह निष्कर्ष निकलता है कि कला मूलतः अभिव्यक्ति है, वहाँ दूसरी ओर यह बात भी प्रकट करने का प्रयास किया गया है कि वह अभिव्यक्ति कैसी और क्यों होती है ? दूसरे शब्दों मे कला का स्वरूप निर्धारित करने का प्रयास भी इन परिभाषाओं में दीख पड़ता है। इस प्रयास में दो तथ्य उपस्थित किये गये हैं :—

१—कुछ विद्वान कला को उपयोगिता अर्थात मानव-हित से सम्बद्ध करते है।

२—कुछ विज्ञान कला को उपयोगिता को असम्बद्ध करके प्रसन्नता या आनन्द से सम्बद्ध करते हैं।

वस्तुतः यह विवादास्पद स्थल है और इसी ने 'कला-कला के लिए' और 'कला जीवन के लिए'—इन दो वादो को जन्म दिया है। किन्तु अधिकांश विद्वान इन दोनों मे समन्वय स्थापित करते हुए 'कला को श्रेय और प्रेम की समन्वित अभिव्यंजना' मानने के पक्ष मे हैं। यही मत समीचीन प्रतीत होता है।

इन विवेचन के प्रसंग मे कलाओं के वर्गीकरण की ओर भी ध्यान देना उपयुक्त और आवश्यक प्रतीत होता है। विद्वानों ने इस स्थल पर भी पर्याप्त माथापच्ची की है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान 'क्रोचे' और उसके समर्थक यह कहते हैं कि 'कला आत्मा की ही अभिव्यक्ति है और आत्मा एक है। कला का जन्म तो कलाकार के अन्तःकरण में होता है जहाँ विभाजन का कोई प्रश्न ही नही उठता।'

किन्तु, हेगिल' तथा दूसरे विद्वान कलाओं का वर्गीकरण, उपयोगिता और ललित-दो वर्गों मे करते हैं। इस वर्गीकरण का आधार उपयोगिता और

सौंदर्य है। उपयोगिता, भौतिकवाद से सम्बन्ध रखती है और सौंदर्य मन से संबंध रखता है।, किन्तु कहना न होगा कि उपयोगिता और सौंदर्य—दोनों, वास्तव में साथ-साथ चलते हैं। उपयोगी वस्तुओं में भी सौंदर्य का दृष्टिकोण रखा ही जाता है; चाहे उस वस्तु की उपयोगिता हमारी बाहरी (भौतिक) आवश्यकताओं से सम्बन्ध रखती हो. चाहे भीतरी (आंतरिक) आवश्यकताओं से। अभिप्राय यह कि हम अपने आवास. वस्त्र. फर्नीचर. सवारी. घड़ी-चश्मा-जूता आदि विविध वस्तुओं को भी सुन्दर बनाना चाहते हैं और अपने मनमस्तिष्क की अन्तर्वृत्तियों को सन्तुष्ट करने वाली विविध कलाओं को भी. जिनका आधार भी सूक्ष्म होता है और अभिव्यक्ति का स्वरूप भी सूक्ष्म होता है। यही कारण है कि भारत के प्राचीन विद्वानों ने चौंसठ कलाओं का नामकरण तो किया किन्तु उनका उपयोगी और ललित वर्गीकरण नहीं किया।

ऐसा होते हुए भी आजकल कला का उक्त वर्गीकरण अधिकांश विद्वान इसलिए स्वीकार करते हैं या उनकी चर्चा करते हैं कि अध्ययन-अध्यापन में सुविधा हो। केवल इसी को आधार मानकर हम ललित कला का वर्गीकरण नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं :—

ललित कलाएँ पाँच प्रकार की हैं—

१-वस्तुकला. २-मूर्तिकला. ३-चित्रकला. ४-संगीतकला. ५-काव्यकला।

इनमे जिस कला मे वाह्य सामग्री का जितना अधिक प्रयोग होता है वह उतनी ही निकृष्ट मानी जाती है और जिसमें जितना कम होता है. वह उतनी ही श्रेष्ठ स्वीकार की जाती है। इस दृष्टि से वास्तुकला सबसे निम्न कोटि की ओर काव्यकला सबसे श्रेष्ठ ठहरती है।

काव्यकला की सामग्री भाव और भाषा है जिसके आधार पर काव्य-कला के दो पक्ष हो जाते हैं—भाव पक्ष और कलापक्ष। काव्यकला का अन्य कलाओं में बहुत घनिष्ठ संबंध है। काव्य मे संगीत तत्व तो होता ही है चित्र और मूर्ति कला के तत्व भी होते हैं। हाँ अन्तर यह कि चित्र और मूर्ति के स्वरूप काव्य में शब्दों द्वारा बनते हैं. भौतिक-उपादानों द्वारा

नहीं। काव्यकला के भेद. नाटक. में ये सभी कलाएँ स्थूल रूप में आ मिलती हैं।

इस तरह यह स्पष्ट है कि काव्यकला का अन्य ललित कलाओं से बहुत घनिष्ठ संबंध है और यद्यपि काव्य में भाव की प्रधानता होती है, पर वह कला से सम्बद्ध अवश्य होता।

भारतीय काव्य शास्त्रियों ने काव्य को कला के अन्तर्गत तो नहीं माना है पर उसमें कला का आश्रय स्वीकार अवश्य किया है। काव्य में भाव और भाषा का इस प्रकार तादात्म्य हो जाता है कि उनको पृथक करना असम्भव है। उसमें जनहित के सन्देश भी कलात्मक ढंग से उपस्थित किये जाते हैं। चूँकि उपयोगिता और लालित्य दोनों अन्योन्याश्रित है, अतः काव्य को कलाओं के अन्तर्गत रखना उचित नहीं जान पड़ता। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी कला के अन्तर्गत काव्य को रखने का विरोध किया था। किन्तु, कला और काव्य दोनों का सम्बंध सौंदर्य बोध से है और काव्य में कला होती ही है इसलिए 'काव्यकला' शब्द प्रयोग में आता है और आता रहेगा।

यद्यपि काव्य, 'साहित्य' की उपेक्षा सीमित है तथापि साहित्य के पर्याय रूप में भी यह बहुत व्यवहृत हुआ है। ध्यान दे तो स्पष्ट हो जायगा कि काव्य के उपभेदों—श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य में साहित्य की बहुत सामग्री आ जाती है। साहित्य की अन्य विधाएँ जो बहुत बाद में विकसित हुई हैं जैसे—गद्य के अन्तर्गत—निबन्ध, उपन्यास, काहानी, आलोचना, रेखाचित्र, संस्मरण रिपोर्ताज आदि में तो कलात्मक दृष्टिकोण होती ही है। अस्तु, साहित्य को कला से अलग नहीं किया जा सकता। वस्तुतः साहित्य को सर्वश्रेष्ठ कला के रूप में स्वीकार करना ही समीचीन है। यही कारण है कि साहित्य के अन्तर्गत सत्यम् शिवंम सुन्दरम् का समन्वय अपेक्षित माना जाता है।

साहित्य को कला के अन्तर्गत का समर्थन इससे भी होता है कि उसकी विविध विधाओं को 'कला' शब्द जोड़कर ही प्रस्तुत किया जाता

है, जैसे–काव्यकला, नाट्य कला, उपन्यास कला, कहानी कला आदि ।

प्रश्न ५—'कला' शब्द की पूर्ण व्याख्या कीजिए और स्पष्ट कीजिए कि कलाओं को 'ललित' और 'उपयोगी' वर्गों में विभाजित करना कहाँ तक समीचीन है ।

प्रश्न ४ उत्तर के दूसरे अनुच्छेद से लेकर अन्तिम अनुच्छेद (पैरा-ग्राफ) के पहले अनुच्छेद तक जो कुछ लिखा गया है, वही इस प्रश्न का उत्तर है । अत: कृपया वही देखें, पुनरावृत्ति से बचने के लिए यह संकेत दे दिया गया है ।

प्रश्न ६—'कला कला के लिए है' कला लोकहित के लिए है—इन दोनों कथनों की व्याख्या करते हुए यह भी स्पष्ट कीजिए कि वास्तविक कलास्वरूप में उनमें सामंजस्य कहाँ तक हो सकता है ?

'कला-कला के लिए है या कला जीवन के लिए–यह एक विवादस्पद प्रश्न है । साहित्य क्षेत्र मे यह विवाद बहुत दिनों से चला आ रहा है और आज तक इसका निर्णय नहीं हो सका है कि दोनों मे कौन सा मत ठीक है और कौन सा नहीं । विद्वानों ने इस प्रश्न पर विचार किया है । दोनों पक्षो के विद्वान अपना-अपना तर्क प्रस्तुत करते है । एक वर्ग कहता है-कला-कला के लिए और उसका जीवन है या लोकहित के से कोई सम्बन्ध नहीं है ! दूसरा वर्ग कहता है–कला जीवन के लिए या लोकहित के लिए है । इस प्रकार विद्वानों मे दो–वर्ग कलावादी और भाववादी या नीतिवादी कहे जा सकते हैं ।

कला कला के लिए सिद्धांत का जन्म १९वीं शताब्दी में यूनान में हुआ और फ्रांस में इसका अधिक पोषण हुआ । इसके समर्थकों में आस्कर वाइल्स, जे० ई० स्पिनगर्न और ब्रैडल आदि पाश्चात्य विद्वान हैं ।

इस सिद्धांत में यह माना गया कि कला का सम्बन्ध कौशल और सौदर्य की अभिव्यक्ति से ही है । कला केवल अभिव्यंजन है । इसे अभि-

व्यंजनावाद भी कहा गया है। 'अभिव्ययंजनावाद' वस्तु को उतना महत्व नहीं देता जितना अभिव्यक्ति को, वस्तु चाहे जैसी भी क्यों न हो, उसको प्रकाशन सुन्दर और विलक्षण रूप में होना चाहिए। इस तरह उसका सम्बन्ध उपयोगिता नीति और आदर्शों से नहीं रह जाता। इस विचार के विद्वान कहते हैं कि 'कला का प्रयोजन उसकी उपयोगिता में नहीं है और उसका मूल्य नैतिक या आर्थिक मान से निश्चित करना उसके साथ अन्याय करना है।' (डा० मनमोहन गौतम की पुस्तक के उद्धृत)। अभिप्राय यह है कि अभिव्यक्ति ही सब कुछ है, अभिव्यक्ति चाहे अश्लील या बुरा प्रभाव डालने वाले बात की भी हो, यदि कलात्मक ढंग से होती है, तो उसे श्रेष्ठ स्थान मिलना चाहिए। दूसरे शब्दों में अश्लील को कलात्मक अभिव्यक्ति भी उचित ठहरती है; वह कला ही मानी जायेगी चाहे समाज के लिए—मानवता के लिए—उसका उपयोग हो या न हो; समाज को वह हानिप्रद हो या लाभप्रद, इससे उसका कोई प्रयोजन नहीं, इससे स्पष्ट है कि ऐसी कला, जो केवल कला के लिए होता है में अनुभूति का स्थान गौण हो जाता है और वाग्वैत्र, चित्र्य, चमत्कार, नक्काशी और स्थूल मनोरंजन की वृत्ति प्रधान हो जाती है।

उस दृष्टि से 'काव्यकला' जिसे पाश्चात्य विद्वानों ने भी सर्वश्रेष्ठ कला स्वीकार किया है, जीवन से सर्वथा पृथक् ठहरती है—जीवन से उसका कोई लगाव या प्रयोजन नहीं रह जायगा। काव्य के केवल कला पक्ष का ही महत्व रहेगा और भाव पक्ष का महत्व समाप्त हो जायगा। दूसरे शब्दों में, चमत्कार प्रधान हो जायगा, वह मनुष्य को आश्चर्य चकित तो कर देगा, उसका मनोरंजन भी कर देगा, लेकिन रसात्मकता, जो अनुभूति की गहराई से उत्पन्न होती है, उसमें स्थान न पा सकेगी। विषयगत या वस्तुगत सौंदर्य ही सर्वाधिक अपेक्षित और महत्वपूर्ण हो जायगा।

इस मत की आलोचना करते हुए डा० मनमोहन गौतम लिखते हैं, 'अभिव्यंजनावाद से भाषा का सौन्दर्य तो बढ़ जाता है, अलंकारिता, उक्ति वैचित्र्य शब्द क्रीड़ा, कौतूहल और मनोरंजन की सृष्टि तो हो जाती

है, पर हृदय से किसी उदात्त भावना संचार नही होता।' कला-कला के लिए है' मत में तो भाव-पक्ष की सदा उपेक्षा होती है। फल यह होता है कि कलाकार-कवि का लेखक-भाव-विचार-पक्ष की ओर ध्यान न देकर विनोद और चमत्कार पर ध्यान देने लगता है और आदर्श के विपरीत हेय तथा अश्लील विषय को ही अपना विषय बनाता है।

यहाँ यह तथ्य हमे स्मरण रखना चाहिए कि भारतीय मत कभी भी उस कला को स्वीकार नही करता, जिसमे सुन्दरम् के साथ शिवम् का समन्वय न हो। शिवम् के अभाव में कल्याणप्रद न होने से उसे सुन्दर कहा ही नहीं जा सकता। उक्त सिद्धांत, इसीलिए, भारयीय मत से मेल नहीं खाता। इसमें तो नग्न रूप को ही कला मान लेते हैं, उस नग्नता का प्रभाव कैसा होगा? इससे कलावादी को कोई मतलब नहीं। इस प्रकार आदर्श और नीति को उक्त सिद्धांत ढकोसला और असुन्दर मानता है। कलावादी नीति और आदर्श को कला के लिए बन्धन और नष्ट करने का साधन मानते है।

इस विवेचना का साराश यह है कि 'कला-कला के लिए' सिद्धांत के काव्य, अनुभूति-पक्ष से सर्वथा रहित है जीवन की उपयोगिता से उसका कोई प्रयोजन नहीं होता। किन्तु भारतीय काव्यशास्त्र इसे अस्वीकार करता है। भारतीय मत मे काव्य का आदर्श ही है। ध्वनि और अनुभूति काव्य की सफलता इसी में है कि वह अपने माध्यम से जन-जीवन को उदात्त कर सके। जो कला जीवन को उच्च स्तर पर हमें अग्रसर नहीं कर सकती, हृदय में उदात्त भावनाओ का संचार नही करती, वह कला की संज्ञा से अभिहित होने के योग्य नहीं है।

अस्तु 'कला जीवन के लिए है' यह मत ही भारतीय काव्य-शास्त्र की दृष्टि में मान्य है और वस्तुतः यही समीचीन भी है। कला लोकहित के लिए ही है यह सिद्धांत सुन्दरम् एवं शिवम् के सामंजस्य पर आधारित है। इसमें अभिव्यक्ति के कौशल और सौन्दर्य को तो माना गया है, उसके साथ ही कला का उद्देश्य लोकहित—जन कल्याण—भी माना गया है इस

मत के अनुसार, कला मात्र उसी का निरूपण नहीं करती, जो सृष्टि में दृष्टि गत होता है अपितु उसके समक्ष समाज का आदर्श भी विद्यमान रहता है। आदर्श का अभिप्राय है—क्या होना चाहिए और जो कला इस तथ्य को साथ लेकर अभिव्यक्त होती है, वास्तव में वही कला, कला है। यदि मात्र यथार्थ का अर्थात् जो है—का ही निरूपण कला में हो तो उसका कोई मूल्य नहीं। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने प्रसंगवश 'साकेत' में इसी तथ्य की ओर संकेत किया है।

'हो रहा है तो जहाँ सो हो रहा,
यदि यही हमने कहा तो क्या कहा ?
किन्तु होना चाहिए कब क्या कहाँ,
व्यक्त करती है कला ही यह वहाँ।'

डॉ० मनमोहन गौतम के शब्दों में, 'जब कलाकार अपनी कल्पना के द्वारा अपने भावों और विचारों को व्यक्त करता है, तो उसमें सौन्दर्य और हित प्रेय और श्रेय का समन्वय रहता है। जिस प्रेय में श्रेय नहीं वह वास्तविक कला ही नहीं है।'

संस्कृत के प्रसिद्ध आचार्य मम्मट ने काव्य का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए बताया कि साहित्य केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं है, बल्कि वह जीवन निर्माण का महत्व पूर्ण साधन है। इसी प्रकार पाश्चात्य विद्वान मैथ्यु ऑर्नल्ड का कथन है—Literature is thé criticism of life अर्थात् साहित्य का लक्ष्य जीवन की व्याख्या करना है। इन दृष्टिकोण से स्पष्ट है कि साहित्य की कला लोक-हित की भावना से अभिभूत होनी चाहिए काव्य या साहित्य उसे ही कहा जा सकता है जिसमें इस प्रकार की अभिव्यक्ति हो कि जन-जीवन लोक समाज के आदर्शों के अनुकूल अग्रसर होने की प्रेरणा प्राप्त हो सके और वास्तविक सुखआनन्द प्राप्त हो सके। अन्त में प्रसिद्ध विद्वान हैमिल्टन के शब्दों में अपने विवेचन का सारांश देना हम उचित समझते हैं कि कलाकार वह है जो अपनी विशेष भावनाओं और अनुभूतियों को अपने आनन्द के लिए और साथ

ही साथ सबके हित के लिए रूपाकार प्रदान करता है।' यह कहना असंगत न होगा कि 'कला-कला के लिए' सिद्धांत अपने में तर्कपूर्ण होते हुए भी प्रयोजन की दृष्टि से अत्यंत दुर्बल है; अनुपयुक्त है और लोकहित की विरोधी होने के कारण समान्य है।

प्रश्न७—साहित्य के विविध रूपों का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।

डा० भगीरथ मिश्र ने अपने काव्य-शास्त्रों के अन्तर्गत साहित्य विविध रूपों से भी विचार किया है। इस स्थल पर, यह बात ध्यान देने की है यहाँ पर साहित्य का व्याख्या स्वरूप ही ग्रहण किया है। अस्तु डा० भगीरथ मिश्र के मतानुसार 'साहित्य के पाँच भेद किये जा सकते हैं—

(१) विज्ञान (२) शास्त्र
(३) दर्शन (४) इतिहास
(५) काव्य

ये रूप क्रमश: बुद्धि या तर्क से अनुभूति और कल्पना के साथ सम्मिश्रण के अनुपात के अनुसार हैं।

अब हम इन साहित्य के रूपों का संक्षिप्त परिचय भी देना उचित समझते हैं—(डा० मिश्र के आधार पर ही।

१. विज्ञान—'तर्क पर आधारित सिद्धांत और नियमों को स्पष्ट करने वाला प्रत्यक्ष या इन्द्रिय-गोचर स्थूल तत्वों का सूक्ष्म व्यवस्थित ज्ञान है।' (डा० मिश्र की यह परिभाषा साहित्य और विज्ञान के पारस्परिक संबंध स्पष्ट करते समय भी स्मरण रखनी चाहिए।)

२. दर्शन—भी प्रमुखतया तर्क और बुद्धि पर ही आधारित है, पर उसका विवेचनक्षेत्र व्यापक है। यह विश्व के विकास आदि को कल्पना एवं जड़ और चेतन के सम्बन्ध का विश्लेषण करता है तथा जीवन क्रम की एक निश्चित व्यवस्था और धारणा का प्रतिपादन करता है। विज्ञान, प्रमुखतया, स्थूल तत्वों और वस्तुओं पर ही आधारित है और वह इन्द्रियों तथा यन्त्रों के माध्यम से साक्षात्कृत तथ्य को ही स्वीकार करता है; परन्तु

दर्शन, काल्पनिक तत्व के आधार पर भी विश्व का रहस्य-उद्घाटन करने का प्रयत्न करता है।

३. शास्त्र—मानव जीवन से सम्बन्धित और उसके लिए उपयोगी बनाये गये नियम और सिद्धांत, जो एक पूर्ण धारणा को स्पष्ट करते हैं। शास्त्र कहलाते हैं। विज्ञान के भी वे 'नियम जो समाज के लिए उपयोगी या उसके जीवन से सम्बन्ध रूप में देखे जाते हैं, शास्त्र का रूप ग्रहण कर लेते हैं। 'अपलाइड साइन्सेज' (Applied Sciences) तथा सामाजिक विज्ञान (Social Sciences) शास्त्र के अन्तर्गत है।

४. इतिहास—किसी वस्तु व्यक्ति जाति के व्यतीत वृतांत का प्रमाणिक लेखा इतिहास कहलाता है। इतिहास का सम्बन्ध जैसा था वैसा ही,' प्रस्तुत करने के प्रयत्न से है। उसके लिए भले-बुरे, उपयोगी अनुपयोगी आदि का विवेचन उतने महत्व का नहीं, जितना कि यथार्थ रूप प्रस्तुत करना। वह यह निश्चय करते हुए यह कहना चाहता है; चाहे वह रोचक हो या अरोचक, चाहे यह भला हो या बुरा। अतः इतिहास का कार्य अपना विशिष्ट कार्य है।

५. काव्य—काव्य जीवन और सत्य के किसी स्वरूप का आकर्षक और सजीव चित्रण है वह रमणीय अर्थ को प्रकट करने वाली शब्द-कला है। वह कल्पना अनुभूति से प्रेरित विचारों की सजीव, आर्कषक और स्मरणीय अभिव्यक्ति है। अतः उसका विषय और तथ्य कुछ भी हो सकता है, उसे एक जीवित रूप देना काव्य का कार्य है। काव्य की अपील प्रमुखतया कल्पना और अनुभूति से होती है। उसका साधन और माध्यम शब्द है। उसमें बुद्धितत्व होता है, पर वह गौण है, वर्णन के औचित्य के लिए ही उसकी आवश्यकता है। काव्य में प्रधानतया कल्पना और अनुभूति के माध्यम से ग्रहीत सत्य का निरूपण किया जाता है, परन्तु इसमें ग्रहीत सत्य के साथ ही साथ उसकी अभिव्यंजनागत विशेषता भी महत्व रखती है।

काव्य एक रचना है, सृजन है। इसका सम्बन्ध विशेषण, तर्क, बुद्धि से उतना नहीं, जितना सृजनात्मक या रचनात्मक प्रतिभा से है। काव्य

प्रतिभा सम्पन्न मानव की शब्दगत सुघर सृष्टि है इसी से यह साहित्य के समस्त रूपों की अपेक्षा अधिक रोचक है। कभी-कभी साहित्य शब्द का प्रयोग भी काव्य-काव्य के अर्थ मे होता है।

डॉ० मिश्र के इस अन्तिम वाक्य से स्पष्ट है कि साहित्य और काव्य पर्याय रूप मे व्यवहृत होते है। अतः व्यापक अर्थ में साहित्य के ऊपर बताये हुए भेद हैं; किन्तु सीमित अर्थ में जो काव्य के उपभेद हैं, वही आज कल साहित्य की विविध विधाओं के रूप में—काव्य या कविता नाटक उपन्यास, कहानी, आलोचना आदि के रूप में ग्रहण किये जाते हैं।

(हम आगे इस अभिप्राय से साहित्य की सभी विधाओं का विवेचन करेंगे। अतः काव्य (साहित्य) के भेदों पर हम यहाँ नही लिखेंगे। पाठक इन्हें आगे के प्रश्नों । पढ़ें। पुनरावृत्ति से बचने के लिए ऐसा किया गया है।

प्रश्न ८—काव्य किसे कहते हैं? पाश्चात्य और भारतीय दोनों मतों का उल्लेख करते हुए सम्यक् विवेचन कीजिए।

सामान्यतया 'काव्य' शब्द से किसी कविता-ग्रन्थ का बोध होता है और 'कविता' शब्द से एक छोटी कविता का। किन्तु, 'काव्य' शब्द का प्रयोग संस्कृत-साहित्य अथवा संस्कृत-काव्य-शास्त्र में 'साहित्य' के पर्याय रूप में हुआ है, अर्थात् व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है। वही कारण है कि काव्य को दो-वर्गों दृश्य-काव्य और श्रव्य काव्य में विभक्त किया गया है और इस प्रकार के कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि सभी को काव्य अन्तर्गत ही माना गया है। इसी बात को काव्य के दो भेद—पद—काव्य और गद्य काव्य—के रूप में भी स्पष्ट किया जाता है। यहाँ यह बात भी ध्यान देने की है कि आरम्भ से ही साहित्य का अर्थ सुललित साहित्य समझा जाता रहा है और प्राचीनकाल में कविता के रूप में ही था, अतः ललित साहित्य और काव्य—दोनों को ही समझा गया।

वास्तव में 'काव्य' क्या है ? इस प्रश्न पर संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी अनेक विद्वानों ने विचार किया और अपना-अपना मत प्रकट किया है। इनमें से काव्य-लक्षणों को स्पष्ट करने वाली यानी काव्य की परिभाषा प्रस्तुत करने वाली प्रमुख परिभाषओं का विवेचन नीचे किया जा रहा है-

संस्कृत-काव्य-लक्षण

काव्य की सबसे प्राचीन परिभाषा हमें 'अग्निपुराण' में इस प्रकार मिलती है—

संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवछिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम् ॥

अर्थात 'संक्षेप में इष्ट को अर्थ प्रकट करने वाली पदावली से युक्त ऐसा वाक्य. जिसमें अलंकार प्रकट हों और जो दोष रहित तथा गुण युक्त हो. काव्य है।' इस परिभाषा में इष्टार्थ संक्षिप्त वाक्य, अलंकार गुण और दोष—इन पांच बातों में काव्य की वाह्य रूपरेखा स्पष्ट की गई है। परन्तु इसमें काव्य का मुख्य प्रभावकारी स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है।

इसके बाद आचार्य 'भामह' की परिभाषा—

'शब्दार्थो सहितौ काव्यम्—(काव्यालंकार)

यह परिभाषा अति-व्याप्ति दोष से पूर्ण है। काव्य के अत्यन्त व्यापक और वाह्य स्वरूप का ही इससे बोध होता है। यही कारण है कि भामह के बाद इन आचार्यों ने काव्य के वाह्य स्वरूप का निरूपण करने वाली इन परिभाषाओं अथवा काव्यल्लणों का खण्डन किया और काव्य की आन्तरिक विशेषता या आत्मा की खोज करने का प्रयास किया। आचार्य दण्डी और आनन्दवर्द्धनाचार्य ने शब्दार्थ अथवा इष्टार्थ को प्रकट करने वाली पदावली को काव्य का शरीर ही माना और कहा कि काव्य का वास्तविक तत्व कुछ और ही है।

इन धारणाओं के कारण काव्य की आत्मा खोजने के प्रयत्न में (१) अलंकार. (२) रीति. (३) ध्वनि. (४) वक्रोक्ति. (५) औचित्य. (६) अनुभूति और (७) रस-से सम्बन्ध रखने वाले काव्य-सम्प्रदायों का

विकास हुआ। इनका नाम उस तत्व के आधार पर रखा गया जिसे इनके मानने वाले काव्य की आत्मा के रूप मे स्वीकार करते हैं।

'भामह' और 'दण्डी ने अलंकार' का व्यापक अर्थ ग्रहण किया है और इसलिए इन आचार्यों ने 'रस' को भी रसवत् अलंकार बताया है तथा उससे अलंकारों की परिधि में समेट लिया है। दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में कहा है—

काव्य शोभाकरान् धर्मान् प्रचक्षते।

इस प्रकार काव्य को शोभा प्रदान करने वाले धर्म अलंकार हुए।

आगे चलकर आचार्य वामन ने दण्डी की भांति, काव्य की शोभा करने वाले धर्म को अलंकार न मानकर गुण माना है और कहा है कि अलंकार गुण के उत्कर्ष के कारण-स्वरूप हैं। गुण आधार पर वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है—

'रीतिरात्मा काव्यस्य'—काव्यालंकार वृत्ति।

आचार्य 'आनन्दवर्द्धन' ने अपने 'ध्वन्यालोक' में काव्य में शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर माना है और 'ध्वनि' को आत्मा—

'काव्यस्मा ध्वनिः।'

आचार्य 'कुन्तक' ने ध्वनि का खण्डन करके कहा है—

'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्।'

अर्थात वक्रोक्ति (बात को घुमाव-फिराव से कहना) ही काव्य का जीवन या आत्मा है।

ऐसे ही आचार्य 'क्षेमेन्द्र' ने 'औचित्य' को आचार्य 'महिमभट्ट' ने 'अनुमिति' की और आगे चलकर आचार्य 'विश्वनाथ' ने अपने साहित्य-दर्पण 'रस' को काव्य की आत्मा माना है—

'वाक्यं रसात्मकम काव्यम्।'

इस प्रकार यह कठिन है कि काव्य की आत्मा के माध्यम से काव्य के लक्षण स्पष्ट किये जांय. क्योंकि काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में आचार्यों में बहुत मतभेद है।

प्रसिद्ध आचार्य मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश' में लिखा है—

'तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।'

यह परिभाषा भी 'अग्निपुराण' की परिभाषा की ही तरह है, जिसमें काव्य का निश्चित क्षेत्र तो स्पष्ट किया गया है, पर काव्य का तात्त्विक और मार्मिक स्वरूप स्पष्ट नहीं है ।

इसी से मिलती-जुलती परिभाषा आचार्य 'हेमचन्द्र' की है—

'अदोषौ सगुणौ सालंकारो च शब्दार्थौ काव्यम् । (काव्यानुशासन)

इस परिभाषा में एक साथ ही दोषहीनता, गुण और अलंकार काव्य में आवश्यक माने गये हैं । डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में 'ऐसी दशा में काव्य के एक सीमित क्षेत्र की ही यह परिभाषा अपने भीतर समेट पाती है । अलंकार गुण और दोष ये स्वयं शास्त्रीय शब्द हैं अतः इस लक्षण के द्वारा काव्य की धारणा स्पष्ट नहीं की जा सकती ।'

ऐसी ही अन्य परिभाषायें भी संस्कृत साहित्य में उपलब्ध होती हैं जो वस्तुतः स्पष्ट नहीं है ।

किन्तु आचार्य मम्मट की उपर्युक्त परिभाषा किसी हद तक काफी लोग मानते हैं और न भी मानें तो चर्चा में इसे छोड़ भी नहीं सकते। बाबू गुलाबराय ने इन्हीं की परिभाषा को पहला और महत्वपूर्ण स्थान दिया है ।

आचार्य मम्मट की परिभाषा के बाद संस्कृत साहित्य में मम्मट के आलोचक और 'साहित्यदर्पण' के रचयिता 'आचार्य श्रीविश्वनाथ' तथा रस गंगाधर के प्रणेता पण्डितराज जगन्नाथ की परिभाषाएँ सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं । आचार्य विश्वनाथ के अनुसार मम्मट की परिभाषा में अधोलिखित अभाव है ।

'पहली बात यह है कि अदोषों एक अभावात्मक गुण है । बहुत उच्च कोटि की कविताओं में भी कुछ न कुछ दोष निकल आता है. फिर क्या वे काव्य नहीं कहलायेंगी ? इसके अतिरिक्त जब काव्य कभी-कभी बिना अलंकारों के भी रह सकता है तो उसके उल्लेख करने की ही क्या

आवश्यकता थी ? परिभाषा में वही चीज आनी चाहिए. जो नितान्त आवश्यक हो । गुण-दोष तो पीछे की वस्तुएं हैं. ये अंग हैं. अंगी नहीं ।"
(काव्य के रूप मे उद्धृत) ।

बाबू गुलाबराय के शब्दों मे. "मम्मट ने गुण और दोषों की व्याख्या रस के ही सम्बन्ध से की है और गुणों को रस के उत्कर्ष के और दोषों को अपकर्ष के कारण कहा है । इस प्रकार रस को ही प्रधानता न देते हुए (भी) प्रधानता मिल जाती है ।" यही कारण कि आचार्य विश्वनाथ ने रस को आत्मा मानते हुए रसयुक्त वाक्य को ही काव्य कहा है—

वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।

डा० भगीरथ के शब्दों में. "यहाँ पर एक अर्थ तो यह हो सकता है कि रस-वाक्य (विभावानुभव व्यभिचारि संयोग से जिसकी निष्पत्ति होती है वह रस. जिस वाक्य में निहित हो वह वाक्य) काव्य है । ऐसी दशा में रस का काव्य में अनिवार्यता सिद्ध होती है. जिसमें बहुत मत-भेद हो सकता है । यदि हम शास्त्रीय दृष्टि से जिस वाक्य में रस सम्पादन हुआ हो, उसे ही काव्य मानेंगे, तो काव्य क्षेत्र अत्यन्त संकीर्ण हो जायगा और अनेक काव्य पंक्तियाँ इस क्षेत्र से निकल जाएँगा । बिहारी और केशवदास की अनेक पंक्तियाँ जिसमें रस की पूर्ण निष्पत्ति नहीं और अलंकार एव उक्तिवैचित्र्य का चमत्कार है, काव्य मे नहीं सम्मिलित होगी यदि हम रस का अर्थ सरसता. माधुर्य आदि से लेते हैं. तब जिसमें मन को रमनेवाली विशेषता हो जिसमें हमारा मन रस ले सके. वह वाक्य काव्य है । ऐसी दशा में सरलता का सम्पादन अनेक बातों से हो सकता है । अलंकार, उक्ति-वैचित्र्य. भाव वस्तु वर्णन आदि इस अर्थ में यह लक्षण व्यापक और सर्वसुलभ है ।'

बाबू गुलाबराय जी इस परिभाषा की वकालत करते हुए लिखते हैं—'वाक्य में अभिव्यक्त का पक्ष आ गया और रस में अनुभूति का ।' इस परिभाषा के विरुद्ध केवल यही आपत्ति उठायी जा सकती है कि रस शब्द ऐसा है कि जिसकी व्याख्या आपेक्षिक है किन्तु प्रायः मोटे तौर से सभी

लोग जानते हैं किरन क्या वस्तु है ? गुणों के सम्बन्ध में भी तो यही आपत्ति उठायी जा सकती है । गुणों की व्याख्या में भी तो अन्त में रस का आश्रय लेना पड़ता है ।' (यह बात मम्टाचार्य की परिभाषा को लक्ष्य करके कही गयी है ।

आचार्य विश्वनाथ की परिभाषा में डा० भगीरथ मिश्र ने जिस दूसरे अर्थ की ओर संकेत किया है उस अर्थ का अधिक स्पष्ट संकेत पण्डितराज जगन्नाथ की इस परिभाषा में मिलता है :—

'रमणायार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्''—रस गंगाधर

अर्थात् 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द काव्य है ।'' बाबू 'गुलाबराय' के मतानुसार 'इनमें रस और अलंकार दोनों के ही चमत्कार आ जाते हैं. किन्तु रमणीयता में हृदय के आनन्द की और अधिक संकेत है ।' इस परिभाषा में विश्वनाथ की परिभाषा को अधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न है किन्तु डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में. 'इस लक्षण में कुछ लोग आपत्ति उठाते हैं कि काव्य के अन्तर्गत शब्द में सदैव अर्थ की रमणीयता नहीं होती, पूरे वाक्य से रमणीयता प्रतिपादित होती हैं । अत: रमणीय अर्थ देने वाला वाक्य काव्य होना चाहिए । परन्तु यहाँ शब्द, क्योंकि वाक्य की सबसे छोटी इकाई है, अतएव वाक्य के स्थान पर शब्द दिया गया है ! कभी-कभी एक शब्द की उपयुक्त सिद्ध की जा सकती है, परन्तु पूर्णार्थद्योतक वाक्य ही होता है । कभी-कभी वाक्य एक शब्द में ही सिमटकर आ जाता है । अतएव विश्वनाथ की भाँति रमणीयार्थ प्रतिमादकम् अधिक उपयुक्त लक्षण होता है । एक त्रुटि इसमें और रह जाती है-यहाँ पर संकेत केवल अर्थ की रमणीयता का हुआ है । काव्य के अन्तर्गत एक अंश ऐसा भी रहता है, जो शब्द की रमणीयता से सम्बन्ध रखता है । वहाँ हर शब्द का चमत्कार ही उसमें कवित्व ला देता है । शब्दालंकार और वृत्तियों के उदारण इसी प्रकार के हैं । वह चमत्कार हो चाहे जिस कोटि का, पर है वह शब्द का ही चमत्कार और काव्य का जो

कलात्मक पक्ष है उसका इससे बहुत बड़ा सम्बन्ध है।···अतः काव्य में शब्द की रमणीयता की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

अतएव हम काव्य की परिभाषा उपर्युक्त बातों का ध्यान रखकर इस प्रकार करे तो अधिक संगत होगा :—

शब्द अर्थ अथवा दोनों की रमणीयता मे युक्त वाक्य रचना को काव्य कहते हैं। [डा० भगीरथ मिश्र]

इस परिभाषा की स्थापना के बाद डॉ० मिश्र कहते हैं—यहाँ पर शब्द की रमणीयता शब्दालंकार, रीति, वृत्ति, संगीत-तत्व आदि के रूप में देखी जा सकती है और अर्थ की रमणीयता अर्थालंकार, वक्रोक्ति ध्वनि रस आदि में प्रकट होती है। शब्द की रमणीयता रीति में भली भाँति प्रतिपादित है-विशिष्टपदरचना रीति में शब्द की सजावट पर ही जोर है। पद में अर्थ का द्योतन अवश्य है, पर रीति की विशेषता अर्थ को और अधिक चमत्कृत करती है। अतः शब्द की रमणीयता का संकेत इसमें विद्यमान है। यह काव्य वाक्य-रचना है, क्योंकि अर्थ की रमणीयता तो चित्र, मूर्ति आदि की रचना में भी देखी जा सकती है। अतः काव्य को वाक्य-रचना कहना ही अधिक संगत है। यही संस्कृत काव्य-लक्षण का सारांश है।

अंग्रेजी काव्यलक्षण—

पाश्चात्य आचार्यों द्वारा काव्य की परिभाषा के काव्य के चार तत्वों भाव-तत्व, कल्पना तत्व, बुद्धि-तत्व और शैली पर ही आधारित है। कोई एक तत्व को प्रधान मानता है, तो कोई दूसरे तत्व को और कोई समन्वय से काम लेता हैं। यहां हम संक्षेप मे कुछ प्रमुख परिभाषाओं का उल्लेख करना चाहते हैं।

इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में लिखा है-'Poetryhis art work. of the poet' अर्थात् कवि का कार्य, कला, काव्य है यह परिभाषा अस्पष्ट है, क्योंकि कवि के माध्यम से काव्य को समझना कठिन है; पहले कवि को समझें, तब उसके कार्य को काव्य कहें।

'ड्राइडन' के अनुसार 'Poetry is articulate music' अर्थात् 'कविता स्पष्ट संगीत है।' इसमें संगीत-तत्व प्रधान माना गया है, जो एकांगी लक्षण है, अतः अनुपयुक्त लक्षण है।

प्रसिद्ध कवि 'कॉलरिज अभिव्यक्ति को प्रधानता देते हुए कहते हैं 'Poetry is the best words in their best order' अर्थात् 'सर्वोत्तम शब्द अपने सर्वोत्तम क्रम में काव्य है।' यह परिभाषा भी अस्पष्ट और भ्रामक है, क्योंकि सर्वोत्तम शब्द कौन-कौन से हैं और उनका सर्वोत्तम क्रम क्या है ? यह किस आधार पर ज्ञात हो ? यह कठिनाई है।

प्रसिद्ध कवि वर्डस्वर्थ भाव-तत्व को प्रधान मानते हुए लिखते हैं, 'Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings which takes its origin from emotions recollected in tranpuillity.' अर्थात् 'कविता प्रबल अनुभूतियों का सहज उद्रेक है, जिसका स्रोत शांति के समय में स्मृत मनोवेगों से फूटता है।' यह परिभाषा बहुत हद तक तथ्यपूर्ण है किन्तु फिर भी आपत्तिजनक है।

कवि 'शेली' के विचार से Poetry is the record of the best and happiest moments of the happiest and best minds'' अर्थात् 'सर्वसुखी और सर्वोत्तम मनो के सर्वोत्तम और सर्वसुख-पूर्ण-क्षणों का लेखा कविता है।' यह परिभाषा भी पर्याप्त आपत्तिजनक है क्योंकि सबसे सुखी उत्तम मनों को परखने की कसौटी क्या है और उनके सबसे सुखी क्षण कौन हैं ? उनका लेखा सदैव कविता होगी यह संदेहास्पद है क्योंकि शेली ने स्वयं ही विषाद-पूर्ण विचारों की अभिव्यक्ति को सबसे मधुर गान माना है—

'Our sweetest songs are those that tell of saddest thought.'

अंग्रेज विद्वान ले हण्ट की परिभाषा है—सौन्दर्य सत्य और शक्ति के हेतु अदम्य वासना के उस उद्गार को काव्य कहा गया है जिसके अन्तर्गत कल्पना और ऊहा के द्वारा भावना को स्पष्ट किया गया हो तथा

विविधता से एकता के सिद्धान्त पर भाषा को ढाला गया हो—Poetry is the utterence of a passion for truth. beauty and power, embodying and illustrating its conception by imagination and fancy and modulating its languge on the principle of variety in unity.' यह परिभाषा कुछ जटिल और अधिक बड़ी है। कविता की अनेक विशेषताओं का संकेत इसमें है, किन्तु गीति काव्य की विशेषता इसमें अधिक प्रकट करने का प्रयास प्रतीत होता है।

कविता के विषय की महत्ता देते हुए 'मैथ्यू आरनॉल्ड कहते हैं—'Poetry is at bottom, a criticism of life' अर्थात् कविता अपने मूल रूप में, जीवन की आलोचना है।' यद्यपि इसमें उत्तम काव्य की विशेषता स्पष्ट हुई है, तथापि इसे कोई विशिष्ट लक्षण नहीं माना जा सकता, क्योंकि जीवन की आलोचना केवल कविता में ही नहीं साहित्य के अन्य रूपों या विधाओं में भी होती है।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध लेखक डॉ. जॉनसन समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए कहते हैं—'Poetry is the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason' अर्थात् 'कविता वह कला है, जो कल्पना की सहायता से युक्ति के द्वारा सत्य को आनन्द से समन्वित करती है।' इसमें काव्य का प्रधान स्वरूप स्पष्ट किया गया है। अतः यह बहुत महत्वपूर्ण परिभाषा है, किन्तु इसमें कलात्मक पक्ष पर अधिक जोर है।

वस्तुतः अधिकांश विचारकों ने कविता को कला के रूप में ही देखा है यद्यपि कला केवल चमत्कारिता के संकीर्ण अर्थ में न होकर व्यापक अर्थ में देखी गयी है। कला के रूप से कविता की बहुत पूर्ण परिभाषा अंग्रेजी के चैम्बर्स कोश में इस प्रकार दी गयी है :—

"Poetry is the art of expressing in melodious words thoughts which are the creations of imagination and feelings" अर्थात् 'कल्पना और अनुभूति से उत्पन्न विचारों को मधुर शब्दों में

अभिव्यक्त करने की कला कविता है।' इस परिभाषा में काव्य के सभी तत्वों का उल्लेख कर दिया गया है केवल एक दोष है—अव्यप्ति का क्योंकि काव्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह सदैव संगीतमय मधुर शब्दों के रूप में ही हो।

अतएव डॉ० भगीरथ मिश्र ने इस परिभाषा के साथ डा० जॉनसन की परिभाषा का समन्वय करके कहा है कि काव्य कल्पना और अनुभूति से गृहीत सत्य की रमणीय शब्दों में अभिव्यक्ति है। यही अंग्रेजी काव्य-लक्षण का निष्कर्ष है।

हिन्दी काव्य लक्षण—

हिन्दी में प्राप्त काव्य-लक्षणों में वस्तुत: मौलिकता का अभाव है क्योंकि कुछ तो संस्कृत काव्य-लक्षणों से प्रभावित है और कुछ पर अधिकांश प्रभाव अंग्रेजी का है, किन्तु फिर भी कुछ परिभाषाएँ बहुत ही महत्वपूर्ण हैं।

पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य में प्राप्त जो काव्य लक्षण हैं, वे संस्कृत की आचार्य परम्परा से प्रभावित आचार्यों अथवा कवियों द्वारा दिये गये हैं। जैसे आचार्य केशवदास चिन्तामणि. श्रपति. कुलपति मिश्र. देव. सूरति मिश्र. सोमनाथ और ठाकुर कवि की दोहों में दी हुई परिभाषाएँ किसी न किसी संस्कृत-परिभाषा का ही अनुमोदन करती हैं और साथ ही एकांगी तथा हल्की धारणाओं वाली हैं काव्य के तात्विक विश्लेषण का उनमें सर्वथा अभाव है। अत: उन पर विस्तार में विचार अनावश्यक है।

आधुनिक कवियों और लेखकों की कुछ धारणायें पाश्चात्य—विशेष कर अंग्रेजी लक्षणों पर आश्रित हैं, फिर भी कुछ मौलिक विवेचना प्रस्तुत करती है।

आचार्य पं० 'महावीर प्रसाद द्विवेदी' ने दो-तीन स्थलों पर काव्य के सम्बन्ध में अपने विचार दिये हैं, जो निम्नलिखित हैं :—

१. "कविता प्रभावशाली रचना है, जो पाठक या श्रोता के मन पर आनन्ददायी प्रभाव डालती है।"

२. 'मनोभाव शब्दों का रूप धारण करते हैं; वही कविता है, चाहे वह पद्यात्मक हो, चाहे गद्यात्मक।'

३. 'अन्तःकरण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है।'

(रसज्ञरंजन, पृ० ५०)।

उक्त लक्षणों पर विचार करें, तो पहले में यह स्पष्ट नहीं है कि आनन्ददायी प्रभाव को सम्पादित करने वाले अवयव और तत्व क्या हैं? दूसरे में सभी मनोभावों का प्रकाशन कविता मान लेना उचित नहीं जान पड़ता और तीसरे में कविता की स्पष्ट किन्तु एकांगी परिभाषा है, क्योंकि अन्तर्वृत्ति का चित्र कविता का रूप-मात्र है। साथ ही कविता और काव्य को द्विवेदी जी पर्याय रूप में प्रयोग करते हैं, जो उचित नहीं। दूसरे शब्दों में, इससे काव्य और कविता की भेदक धारणा स्पष्ट नहीं होती।

१. 'कविता जीवन और जगत की अभिव्यक्ति है'—शुक्लजी के अनुसार अव्यक्त की अभिव्यक्ति जगत है और कविता जगत की अभिव्यक्ति होने के कारण अभिव्यक्त की अभिव्यक्ति हुई। डा० भगीरथ मिश्र इस स्थल पर दृष्टि डालते हुए कहते हैं—'इस लक्षण से कविता की सदा रहने वाली नव्यता और विविधता का संकेत मिलता है, जो कि रमणीयता का रूप है।''''पर लक्षण की दृष्टि से उपर्युक्त कथन समीचीन नहीं,' इसका महत्व उद्देश्य की दृष्टि से अवश्य है। जीवन और जगत की समस्त अभिव्यक्ति काव्य नहीं अतः यह अतिव्याप्ति दोषयुक्त है।'

२. 'सत्वोद्रेक या हृदय की मुक्तावस्था के लिए किया हुआ शब्द-विधान काव्य है।' अथवा जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इस मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी, जो शब्द विधान करती आयी है, उसे कविता कहते हैं। (चिन्तामणि भाग १)

इस परिभाषा में रागात्मक तत्व को मुख्यता दी गयी है और यह रस को अनिवार्य मानकर चलने वाले काव्य के लिए ही उपयुक्त हो सकती है। अतः यह काव्य का व्यापक और पूर्ण लक्षण प्रस्तुत नहीं करती।

महाकवि 'जयशंकर प्रसाद' ने लिखा है—

१. 'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है; वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है।'

'......संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से तात्पर्य......आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक अनुभूति कही जा सकती है।' (काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध)

'प्रसाद' जी की उक्त परिभाषा जटिल और अस्पष्ट है, साथ ही विरोधाभास लिये हुए है। संकल्प विकल्प मन के गुण हैं, आत्मा के नहीं। अनुभूति का विकल्प भी समझ में नहीं आता। ज्ञानधारा मानते हुए भी विज्ञान से सम्बन्ध न मानना भी विरोधी उक्ति है। केवल अनुभूति को ही काव्य कहना उचित नहीं, क्योंकि वास्तव में वह अभिव्यक्ति है और उसे ज्ञानधारा कहना भी तर्कसम्मत नहीं प्रतीत होता। अतः लक्षण की दृष्टि से यह परिभाषा पर्याप्त दोषपूर्ण है।

किन्तु, लक्षण की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण मानते हुए भी, डा० मिश्र के शब्दों में यह कहना उचित जान पड़ता है कि इसमें मौलिक और तात्विक धारणा का संकेत मिलता है जो महत्वपूर्ण है। संकल्पात्मक अनुभूति मनन की वह असाधारण अवस्था है, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में ग्रहण करती है। अतः काव्य श्रेय सत्य की मूल चारुत्व के साथ अभिव्यक्ति हुई।....जीवन और सत्य का जो रूप काव्य के द्वारा प्रकट होता है। अपने पूर्ण सौंदर्य के साथ होता है सत्य का यह रूप, दार्शनिक और वैज्ञानिक के रूप से भिन्न है।....अतः सत्य की अपने पूर्ण सौंदर्य के साथ अभिव्यक्ति काव्य है।'

प्रसिद्ध कवयित्री महादेवी वर्मा का भी विचार है कि कविता हमें असीम सत्य की झाँकी दिखाती है। उनकी एक परिभाषा यों है—

'कविता कवि-विशेष की भावनाओं का चित्रण है और वह चित्रण

इतना ठीक है कि उससे वैसी ही भावनाएँ किसी दूसरे के हृदय में आविर्भूत होती हैं।'

ध्यान दें, तो यह लक्षण काव्य के पूरे क्षेत्र पर लागू नहीं होता। यह केवल गीतिकाव्य की विशेषता का संकेत देता है। इसमें अन्य दोष भी हैं। अतः यह सीमित और सदोष परिभाषा है।

प्रसिद्ध कवि सुमित्रानन्दन पन्त के अनुसार—'कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है।' यह परिभाषा अस्पष्ट है और शैली से प्रभावित जान पड़ती है। इस प्रकार की, अन्य कवियों और लेखकों की, कई परिभाषाएँ मिलती हैं, जो महत्वपूर्ण नहीं हैं, अतः उन पर विचार करना आवश्यक नहीं है।

अन्त में, निष्कर्ष रूप में, बाबू 'गुलाबराय' के शब्दों में काव्य की परिभाषा यों दी जा सकती है :—

'काव्य संसार के प्रति कवि की भाव-प्रधान मानसिक प्रतिक्रियाओं की श्रेय को प्रेय देने वाली अभिव्यक्ति है।

इस विवेचना के उपरान्त यह कहना असंगत न होगा कि काव्य के लिए अनेक आवश्यक तत्व अपेक्षित होते हैं। अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों का काव्य में समान महत्व होता है। हाँ इतना अवश्य है कि अनुभूति के आधार पर ही अभिव्यक्ति निर्भर होती है। गुलाबराय जी के शब्दों में 'अनुभूति के बिना कविता निस्सार और अभिव्यक्ति के बिना वह आकर्षणहीन हो जाती है। अनुभूति का आधार अन्तर और बाह्य जगत है। कविता श्रेय को प्रेय रूप देती है। वह केवल स्वान्तः सुखाय ही नहीं हो पाती वरन् उसमें पाठक और आलोचक भी अपेक्षित होते हैं।' इसी बात का ध्यान रखकर काव्य की उक्त परिभाषा प्रस्तुत की गई है।

प्रश्न ६—'काव्य के कारण और प्रेरणा स्रोत' पर अपने विचार दीजिए।

काव्य के कारण के सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतभेद है।

कुछ लोगों का विचार है कि 'प्रतिभा' ही काव्य का कारण है। यहाँ यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि प्रतिभा किसे कहते हैं ? डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में 'प्रतिभा' मनुष्य की एक जन्मजात दैवी शक्ति है, जिससे उसके अन्तर्गत नवीन वस्तुओं की रचना की स्फूर्ति जाग्रत होती है।' ध्वन्यालोककार के अनुसार, 'अपूर्व वस्तु निर्माण क्षमता प्रज्ञा' है। अस्तु कहा जा सकता है कि नवीन रचना की स्फूर्ति देने वाली शक्ति ही प्रतिभा है। इस प्रतिभा को कुछ विद्वानों ने शक्ति भी कहा है, कुछ ने 'कल्पना' कहा है।

संस्कृत के आचार्य 'रुद्रट' काव्य के कारण-रूप शक्ति के दो भेद करते हैं—

१—सहजा, २—उत्पाद्या।

सहजा–ईश्वर-प्रदत्त और पूर्व संस्कारों द्वारा संचित जन्मजात शक्ति है।'

उत्पाद्या-शास्त्र लोकानुभव तथा सत्संग से प्राप्त शक्ति होती है।

आचार्य 'दण्डी ने भी इसी से मिलता-जुलता मत व्यक्त किया—"पूर्ववर्ती संस्कारों के रूप में अद्‌भुत प्रतिभा के विद्यमान न होने पर भी यत्न सत्संग और अध्ययन से वाणी निश्चय ही किसी-किसी पर कृपा करती है।" किन्तु, यह धारणा अवैज्ञानिक प्रतीत होती है, क्योंकि प्रतिभा के सर्वथा अभाव में वाणी की कृपा असम्भव है। वस्तुत: किसी न किसी मात्रा में प्रतिभा होने पर ही इसकी सम्भावना की जा सकती है। दूसरे शब्दों में यदि क्षीण प्रतिभा भी हो तो वह व्युत्पत्ति और अभ्यास से विकसित हो सकती है। यदि प्रतिभा का बीज प्रबल है. तो कवि को स्वत: उनकी चेतना होती है और उसे जागृत करने के हेतु बाह्य उपादानों की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु उसके विकास के लिए व्युत्पत्ति और अभ्यास की आवश्यकता अवश्य होती है। प्रतिभा का बीज यदि बिल्कुल ही न हो तो मात्र व्युत्पत्ति और अभ्यास से कोई कवि नहीं हो सकता।

इसी दृष्टि से आचार्य 'वामन' कहते हैं—'कवित्वबीज प्रतिभानस'

अर्थात प्रतिभा ही कवित्व का कारण है आचार्य 'जयदेव' और आचार्य 'हेमचन्द्र' ने भी इस मत का समर्थन किया है।

अब प्रश्न यह होता है कि क्या प्रतिभा के होते हुए भी बिना आयास और लोक-शास्त्र-ज्ञान के काव्य का विकास सम्भव है ? उत्तर स्पष्ट है— नहीं ऐसी दशा में प्रतिभा को काव्य का प्रमुख कारण मानते हुए भी व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी काव्य के कारण की सीमा में ग्रहण करना होगा।

अस्तु, उक्त दृष्टिकोण से ही, आचार्य 'मम्मट' ने अपने काव्य प्रकाश में 'शक्ति, निपुणता और अभ्यास' को काव्य के कारण-रूप में स्वीकार किया है। यहाँ डा० भगीरथ मिश्र लिखते हैं–'दोनों को कारण रूप मानते हुए भी दोनों में भेद किया जा सकता है। हम प्रतिभा को निमित कारण तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास को उत्पादन कारण मान सकते हैं। बीज-स्वरूप प्रतिभा निमित्त कारण है और मिट्टी और जल तुल्य व्युत्पत्ति और अभ्यास उत्पादन कारण है।'

इसी क्रम में यह समस्या भी हमारे सामने उपस्थित होती है कि हो सकता है कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के होने पर भी काव्य रचना सम्भव न हो ! ऐसी स्थिति में हमारा ध्यान 'काव्य की प्रेरणा देने वाली वृत्तियों की ओर जाता है। इन वृत्तियों के अभाव में ही उक्त समस्या उपस्थित होती है, अन्यथा नहीं। अतः यह उपयुक्त होगा कि इन वृत्तियों को भी हम काव्य-कारण की परिधि में स्वीकार करें, ये प्रवृत्तियाँ तीन है :—

१—आत्माभिव्यक्ति, २—सौदर्य के प्रति आकर्षक और ३—कौतुक।

इनके सम्बन्ध में यह तथ्य ज्ञातव्य है कि आत्माभिव्यक्ति द्वारा काव्य की प्रेरणा मिलती है और दोनों वृत्तियाँ उसकी पृष्ठभूमि निर्मित करती हैं। यहाँ पर डा० मिश्र का कहना है—'अपनी अनुभूति को प्रकट करने अथवा उसे दूसरों की अनुभूति में परिणत करने की विह्वलता का जब कवि अनुभव करता है, तभी प्रतिभा, काव्य रचना में प्रवृत्त होती है

और व्युत्पत्ति और अभ्यास से काव्य का विकास होता है।'

अन्ततः समन्वय करते हुए सार-रूप में डा० मिश्र लिखते हैं :—

काव्य के तीन प्रकार के कारण हैं—

१—प्रेरक, २—निमित्त. ३—उपादान।

प्रेरक कारण—कवि की सामाजिक, पारिवारिक या वैयक्तिक परिस्थितियाँ तथा उसकी प्रकृति हैं जिससे उसे काव्य-रचना की प्रेरणा प्राप्त होती है और जिसके अभाव में या तो काव्य-रचना बिल्कुल नहीं होती अथवा होती भी है तो किसी अन्य रूप में।

निमित्त कारण—कवि की प्रतिभा है। यह प्रतिभा कवि की उर्वर कल्पना, सौंदर्यानुभूति, संवेदनशीलता, शब्द और अर्थतत्व की सूक्ष्म परख और सहज स्वतः अभिव्यंजनशीलता एवं उन्मेष के रूप में देखी जा सकती हैं।

उपादान कारण—लोक-शास्त्र के व्यापक ज्ञान, सत्संग श्रवण मनन और अभ्यास के रूप में होते हैं, जो पूर्ववर्ती दोनों कारणों को सहायता पहुंचाते हैं और काव्य-रचना के सम्यक् विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। इनके बिना काव्य-रचना व्यापक महत्व एवं स्थायित्व नहीं प्राप्त करती।"

इन कारण को यदि चाहें, तो और भी अधिक व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत कर सकते हैं। वस्तुतः प्रेरक कारण भी निमित्त कारण के एक भेद के रूप में ग्रहण किए जा सकते हैं। इस तरह निमित्त कारण के दो रूप हो सकते हैं—१ प्रेरक और २. प्रतिभा। दूसरे शब्दों में, काव्य के कारण दो वर्गों में विभक्त होंगे—निमित्त और उपादान। इन्हीं में काव्यकारण के सभी रूप समाविष्ट हो जाते हैं।

इसी सन्दर्भ में यह स्मरणीय है कि आचार्य 'वामन' के काव्यांगों के जिन तीन भेदों लोक विद्या और प्रकीर्ण—का उल्लेख किया है, वे भी काव्य के साधन ही हैं। उनका कथन भी उक्त मत का ही समर्थन करता है।

काव्य के कारण बताते हुए ऊपर हम कह चुके हैं कि काव्य-रचना की प्रेरणा देने वाली 'वृत्तियाँ' भी उसके कारण क्षेत्र में ही आती हैं। आत्माभिव्यक्ति, सौंदर्य के प्रति आकर्षण और कौतुक—इन तीन वृत्तियों की चर्चा की गयी है। वास्तव में काव्य-रचना के प्रेरक-स्रोत में इन्हीं का स्थान सर्वोपरि है। काव्य का प्रयोजन बताते हुए भी इन प्रेरणा-स्रोतों पर कुछ प्रकाश डाला गया है। उन्हें हम यहां संक्षेप में प्रस्तुत कर देना आवश्यक समझते हैं।

'काव्य या कला जीवन के लिए है, यह भी काव्य का एक प्रयोजन है, जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, इसी मत का एक अंग है-जीवन से पलायन के अर्थ-भी काव्य-रचना होती है। हम जब अपने दैनिक जीवन की चिन्ताओं, कटुताओं और एकरसता से ऊब जाते हैं, तब हम अधिक व्यापक, बहुरंगी और सुन्दर जीवन का दर्शन करना चाहते हैं। इसके लिए हमें काव्य और कला का आश्रय लेना पड़ता है। मध्ययुग में तुलसीदास को रामकाव्य की रचना करने की प्रेरणा इसलिए मिली कि उस युग का जीवन, अभाव एवं कटुता से ओत प्रोत था। अतः यथार्थ जीवन की ओर यानी अवांछनीय की ओर जाने की प्रेरणा, जिसे 'पलायन कह सकते हैं, काव्य-रचना के मूल में मनाना अनुपयुक्त न होगा।

ठीक इसी तरह मनोरंजन अथवा आनन्द के लिए भी काव्य-कला का प्रणयन, श्रवण, अध्ययन और मनन होता है। काव्यनन्द लोकातीत है, उनकी प्राप्ति की प्रेरणा से ही काव्य की ओर हम उन्मुख होते हैं।

काव्य-काल के मूल में सेवा (मानवता की सेवा और सद्भावनाओं के प्रचार—नैतिक उत्थान के प्रयास) की प्रेरणा भी हो सकती है। यह भी सर्वथा स्वीकार्य है।

आत्मा-साक्षात्कार की प्रेरणा से भी काव्य-कला का सृजन होता है और कलाकार के अलावा अन्य व्यक्ति उससे आनन्दित तथा लाभान्वित होते हैं।

कुछ मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि किसी प्रकार का अभाव या

हीनता काव्य-कला के सृजन की प्रेरक होती है। किन्तु यह बात सर्वथा
सारांशतः यह की जा सकती। अंशतः अवश्य मान्य है।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि अन्तःकरण पर पड़ने वाले प्रभावों को अभिव्यक्ति देने की प्रेरणा ही काव्य के मूल में है, उसमें सौंदर्य के प्रति आकर्षण भी हो सकता है और कौतुक-वृत्ति भी हो सकती है। इसी सीमा में उपयुक्त सभी बातें समाविष्ट हो जाती हैं। डा० मिश्र लिखते हैं—'आत्माभिव्यक्ति काव्य-सृजन में प्रधान है; पर वह आत्माभिव्यक्ति ऐसी होती है, जोकि बहुतों की आत्मानुभूति को जागृतकरसके।'

प्रश्न १०—काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में विभिन्न मतों का आलोचनात्मक परिचय दीजिए।

पाश्चात्य प्रभाव के कारण आधुनिक युग में काव्य के प्रयोजन को लेकर अनेक मतवाद चल पड़े हैं। वस्तुतः काव्य को कला के अन्तर्गत मानकर ही, कला के प्रयोजन को लेकर ये मत व्यक्त किये गये हैं, जो प्रायः एकांगी दृष्टिकोण ही प्रस्तुत करते हैं। इनमें से प्रमुख मत अधोलिखित हैं :—

१. कला-कला के लिए—यह वाद कला और काव्य के क्षेत्र में सर्वाधिक चर्चा का विषय है। 'काय और कला के अत्यधिक नैतिक, धार्मिक और प्रचारवादी दृष्टिकोण ने ही इस वाद को जन्म दिया है। काव्य उद्देश्य-प्रधान हो और जीवन में उपोगी बातों को ही अभिव्यक्त करे या धार्मिक प्रचार का साधन बने, इस धारणा के विरुद्ध कुछ स्वच्छन्द प्रेम और शृंगार का चित्रण करने वाली कुछ अश्लील कही जाने वाली और कठोर नैतिकता के विपरीत विद्रोह जगाने वाली कविता के समर्थन के लिए कला-कला के लिए अथवा कविता-कविता के लिए है नैतिकता या धार्मिक उपदेश के लिए नहीं और उपयोगिता की स्थूल कसौटी पर वह नहीं कसी जानी चाहिए, इस दृष्टिकोण का जन्म और प्रचार हुआ।"

(डॉ० भगीरत मिश्र)

इस मत के समर्थक हैं—'आस्कर वाइल्ड' तथा उनके साथी और डॉ ब्रैडले। इस सम्बन्ध में ब्रैडले के महत्वपूर्ण विचार देने के पूर्व यह कहना अनावश्यक न होगा कि कवि या कलाकार कविता या कलाकृति की रचना करते समय, कोई निश्चित प्रचारवादी या उपदेशात्मक उद्देश्य लेकर नहीं बैठता। अत: उसकी प्रतिभा के स्वच्छन्द प्रस्फुटन के लिए प्रयोजन या उद्देश्य का कोई बन्धन या सीमाएँ उसके लिए वांछनीय नहीं,नहीं तो उसका पूर्ण विकास सम्भव न होगा। कवि या कलाकार का मुख्य उद्देश्य काव्य या कला का सृजन करना ही होता है। इसलिए उसकी दृष्टि में, कला-कला के लिए ही है, और किसी प्रयोजन के लिये नहीं। किन्तु इस मत या सिद्धांत का उपयोग कुरुचिपूर्ण अश्लील. दूषित अथवा वीभत्स साहित्य के समर्थन और प्रचार के लिये करना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा करना मूल रूप में काव्य या कला के स्वभाव के विपरीत होगा। उससे सामूहिक उत्कृष्ट आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता।

इस तथ्य को सामने रखते हुए हमें ब्रैडले का विचार भी जान लेना चाहिए। उनके विचारों और तर्कों का सार अधोलिखित है—

१. कविता विविध अनुभवों का क्रम है जो हमें ध्वनियों कल्पनाओं विचारों भावनाओं आदि के रूप में कविता के पढ़ते समय प्राप्त होता है यह अनुभव काल्पनिक होता है और प्रत्येक पाठक एवंप्रत्येक पाठ के साथ भिन्न रूप में प्राप्त होता है। इस प्रकार एक कविता अनेक कोटियों में रहती है।

२. 'कविता-कविता के लिए है' इस सूत्र से ये बातें समझनी चाहिए—प्रथम यह अनुभव स्वयं ही साध्य है और इसका अपना निजी स्वतंत्र मूल्य है। द्वितीय, काव्य का मूल्य यही अनुभव है। कविता का महत्व इसके अतिरिक्त अन्य बातों में भी देखा जा सकता है, जैसे धर्म संस्कृति उपदेश, शान्ति अर्थ-प्राप्त आदि। परन्तु काव्य का यह मूल्य उसके काव्यात्मक मूल्यों को निश्चित नहीं करता, जिस प्रकार वह एक कल्पनागत अनुभव के रूप में हमें प्राप्त होता है तृतीय अन्य प्रयोजनों से

काव्य का वास्तविक मूल्य बढ़ता नहीं, वरन् घटता ही है।

३. कविता के लिए विषय महत्त्व का नहीं है और न यही कहा जा सकता है कि उसके बिना कविता केवल रूप है, अभिव्यक्ति है। कविता वस्तु और रूप दोनों का ही समन्वय या संश्लेषण है। अतः कविता का मूल्य विषय में न रहकर समस्त कविता मे है; क्योंकि एक ही विषय पर अनेक कोटियों की कविता लिखी जा सकती है। कविता न केवल विषय है और न केवल रूप या शैली। अत कविता-कविता ही है। उसमें एक को दूसरे से अलग कर नहीं देखा जा सकता। दोनों का एकीकरण ही काव्य का सार या मूल रूप है। अतः जब कविता के तत्त्वों को अलग करके नहीं देखा जा सकता, तो कविता का प्रयोजन भी कविता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह सभी कलाओं के लिए सत्य है।

डॉ० भगीरथ मिश्र ने 'ब्रैडले' के मत को दृष्टि में रखकर यह कहा है—'कवि या कलाकार की दृष्टि से कला-कला के लिए है, यह मत मानते हुए भी पाठक या श्रोता की दृष्टि से दूसरे प्रयोजन स्वतः ही आ जाते हैं। जब कोई रचना का पाठ करता है या कलाकृति का अवलोकन करता है, तो उसे आनन्द प्राप्त होता है। हो सकता है कि उससे उसे जीवन में कोई प्रेरणा भी प्राप्त हो, कोई शिक्षा मिले अथवा थोड़ी देर के लिए वह चिन्ताग्रस्त परिस्थितियों से निकलकर कलाकार के काल्पनिक ससार में विचरण भी करने लगे।' ऐसी दशा में कलाकार ने जिसे केवल कला की दृष्टि से रचा है, वही पाठक के लिए अनेक प्रयोजनों से युक्त हो जाती है। अस्तु यह मत अन्य मतों का विरोधी नहीं है वरन् यह मत का एक पक्ष है और दूसरे पक्ष में अन्य मत समाविष्ट हो जाते हैं।

२. कला, जीवन के लिए-काव्य और कला जीवन के लिए है इसे कौन नहीं स्वीकार करेगा। हमारे जीवन के विकास एवं उत्थान के साथ-साथ ही कला का स्थान महत्वपूर्ण होता जा रहा है और उसमें व्यापकता आती जा रही है। काव्य और कला के अभाव में जीवन का जो स्वरूप रहेगा उसकी कल्पना करना भी कठिन है। इतना ही नहीं

काव्य जीवन की प्रेरणा देता है, उसमें सरसता तथा उत्साह का संचार करता है। हमारे चिन्ता एवं दुखी मन को वह प्रसन्नता प्रदान करता है हमें संजीवनी शक्ति देता है।

काव्य में यथार्थ के साथ आदर्श जीवन का भी चित्रण होता। इस तरह वह हमें यथार्थ के आधार पर आदर्श की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है काव्य और कला में आद्यन्त जीवन की विविध झाँकियों का दर्शन सुलभ होता है। डॉ० मिश्र के ही शब्दों में 'जीवन को काव्य एक विशेष सुन्दर, स्वास्थ्य और उदात्त दृष्टिकोण से प्रस्तुत करता है। हम थोड़े ही समय में व्यापक सम्पूर्ण जीवन का दर्शन कर ज्ञान. आनन्द और शिक्षा प्राप्त करते हैं। अतः कला यदि जीवन के लिए नही तो उपयोग ही क्या हो सकता है?" यह मत भी कला या काव्य के सामाजिक पक्ष से ही सम्बन्धित है।

३. जीवन के पलायन के अर्थ—यह मत भी कोई अलग नहीं है, बल्कि उपर्युक्त मत का एक ही अंग है। जब हमारा दैनिक जीवन के चिन्ता, कटुता और एकरसता आदि से हमारे मन को उबा देता है तब हम अधिक व्यापक, सुखद, आनन्दप्रद, सरस, सुन्दर और बहुरंगी जीवन का दर्शन करना चाहते हैं, जिसके लिए हमें काव्य और कला का ही सहारा लेना पड़ता है। मध्य युग में जब हमारा जीवन अभाव और कटुता से भर गया था, तब तुलसीदास जी ने जो रामगाथा प्रस्तुत की वह इसका प्रमाण है। वस्तुतः पलायन का अर्थ ही है एक अवांछनीय जीवन से आदर्श जीवन में प्रवेश करना। यथार्थ जीवन की कटुता से ऊबकर काल्पनिक आदर्श जीवन के चित्र प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति इस भावना में निहित है। छायावादी काव्य में हमें ऐसे उदाहरण देखने को मिल सकते हैं।

४. मनोरंजन अथवा आनन्द के लिए-भी काव्य अथवा कला की सृष्टि होती है। इसमें संदेह नहीं कि काव्य से मनोरंजन होता है और आनन्द भी मिलता है। इसमें आनन्दप्रद शक्ति निश्चित रूप से होती है।

काव्य के आनन्द को 'ब्रह्मानन्दसहोदर' भी कहा गया है। इसका आनन्द वास्तव में अलौकिक होता है, क्योंकि इसमें अन्तर्वृत्तियों की पूर्ण तन्मयता रहती है। इससे हमें मानसिक आनन्द भी प्राप्त होता है और हमारा आत्मिक विकास भी होता है। काव्य अथवा कला के इस प्रयोजन को सभी स्वीकार करते हैं-इसमें मतभेद नहीं।

५. सेवा के लिए-काव्य या कला से मानवता की सेवा करना और सद्भावनाओं का प्रचार करना, प्रचारवादी या नैतिक दृष्टिकोण है। कलाकार चाहे या प्रयोजन न भी रखे तो भी काव्य या कला से मानवता की सेवा अवश्यम्भावी है। कलाकार स्वयं अपने युग के अनुसार अपनी चेतना में कोई मानव-सेवा का सिद्धांत स्वीकार करता है, जिसका प्रतिबिम्ब उसकी कृति में स्वाभाविक रूप से आ ही जाता है। हाँ यदि सेवा का उद्देश्य लेकर कोई कलाकार कला-सृजन में प्रवृत्त हो तो उसकी कला की उत्कृष्टता में बाधा उत्पन्न हो सकती है. अतः इसका उपयोग उचित ढंग से होना चाहिए। 'टाल-स्टाय' इस मत के समर्थक थे।

६. आत्म-साक्षात्कार के लिए-काव्य और कला में कलाकार आत्म-साक्षात्कार भी करता है। वह अपनी अनुभूतियों और आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति देता है। उसके अन्तःकरण पर जगत और जीवन का जो प्रतिबिम्ब अंकित होता है, उसे ठीक से समझकर कृति का रूप देना ही उसका प्रयोजन होता है। इस प्रकार वह आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया में लोकात्मा का भी साक्षात्कार करता है, किन्तु भावुक और उत्कृष्ट कलाकार ही इसमें सफल होता है। उसके अनुभव के प्रकाशन में लोकानुभव प्रकाशित हो जाता है। कभी-कभी उसकी कृति के अन्तर्गत पाठक या श्रोता दर्शक को उसकी अनुभूति में अत्यन्त विलक्षण, नवीन और आश्चर्यजनक आनन्द की अनुभूति होती है। इतना ही नहीं, कवि के इस आत्मानुभव में इसलिए और भी आकर्षण बढ़ जाता है कि उसमें निजी व्यक्तित्व के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने की कुतूहल-वृत्त भी होती है। विशेषतया भावुक कलाकर या गीतकार में आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया

विशेष महत्व रखती है।

७. एक सृजनात्मक आवश्यकता—ही काव्य या कला के सम्बन्ध में तथ्यवादी और दार्शनिक मूलभूत दृष्टिकोण है। वस्तुः काव्य-रचना एक ऐसी सृजनात्मक आवश्यकता है, जिसे पूरा किये बिना सृजन की प्रतिभा से युक्त व्यक्ति रह ही नहीं सकता। ईश्वर की सृष्टि के प्रयोजन की भाँति काव्य अथवा कला का यह प्रयोजन एक स्वयंसिद्ध प्रयोजन तो इनके बाद ही प्रकट होते हैं।

निष्कर्ष—काव्य के ये सभी प्रयोजन एक दूसरे के पूरक ही हैं, विरोधी नहीं। इन्हें प्रायः एक साथ ही किसी भी कृति में देखा जा सकता है। अतः काव्य प्रयोजनों पर विचार करते समय हमारा दृष्टिकोण व्यापक होना अपेक्षित है। संस्कृत के आचार्यों ने काव्य के एक साथ अनेक प्रयोजन स्वीकार किये हैं। आचार्य 'भामह' ने कहा है—

'धर्मार्थ काममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्ति प्रीति च साधु काव्य निवेषणम्॥'

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, कला-कुशलता, कीर्ति और प्रेम की प्राप्ति काव्य से सम्भव है। ये सब काव्य के प्रयोजन ही तो हैं। आचार्य 'मम्मट' भी लिखते हैं :—

'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्य परिनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेश युजे॥'

अर्थात् 'काव्य से यश की प्राप्ति अर्थ मिलता है. व्यवहार ज्ञान होता है होती है अमंगल का नाश होता है। तुरन्त अलौकिक आनन्द मिलता है और कान्ता के समान मधुर. प्रिय लगने वाला उपदेश भी मिलता है।

अन्त में डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में. काव्य के माध्यम से आयी हुई शिक्षा हृदय पर प्रभाव डालती है और भुलाई नहीं जा सकती। इस प्रकार वैयक्तिक और सामाजिक. लौकिक और आध्यात्मिक सभी प्रयोजनों का संकेत इसमें मिल जाता है।" डा० मिश्र ने अपने इस कथन के सम-

न में आगे लिखा है—'इसी की पुष्टि करते हुए आचार्य भिखारीदास लिखा है :—

एक लहैं तपपुञ्जन के फल ज्यों तुलसी अरु सूर गुसाईं।
एक लहैं बहु सम्पत्ति के शव भूषण ज्यों बरबीर बड़ाई॥
एकन को जस ही सों प्रयोजन है रसखान रहीम की नाईं।
दास कवित्तन की चरचा बुधिवन्तन को सुख दै सब ठाईं।'

प्रश्न ११—काव्य के दो पक्ष कौन-कौन से हैं ? उनका स्पष्ट विवरण दीजिए।

कला का विवेचन करते समय कला के आधार और उपकरण की ओर भी ध्यान दिया जाता है। आधार के रूप में भावों उनके अगणित भेदों—को देखने-समझने की चेष्टा की जाती है। उपकरण के रूप में यह देखा जाता है कि कला के सौंदर्य और प्रभाव के हेतु क्या-क्या हैं ? और उनके स्वरूप-निर्माण तथा उत्कर्ष में कौन-कौन से तत्व सहायक होते हैं।

इसी दृष्टिकोण से साहित्य और काव्य का भी विवेचन करने की प्रणाली चल पड़ी है। काव्य को ला मानकर उसके आधार रूप से भावों को स्थान दिया गया है और उपकरण-रूप से अलंकार, रस, रीति आदि को। अतएव, काव्य-कला के दो पक्ष या अंग हो जाते हैं—भावपक्ष और कलापक्ष। कला विवेचन के सन्दर्भ में पाश्चात्य समीक्षकों ने कलापक्ष के स्थान पर सौंदर्य पक्ष रखा है। दूसरे शब्दों मे, कला-पक्ष और सौंदर्य-पक्ष दोनों पर्याय रूप में प्रयुक्त हैं। कुछ आधुनिक विद्वानों ने भाव-पक्ष और कला-पक्ष के स्थान पर अनुभूति-पक्ष और अभिव्यक्ति-पक्ष का व्यवहार किया है।

बाबू गुलाबराय जी ने इसी बात को यों लिखा है—'कवि साधारण मनुष्या की अपेक्षा कुछ अधिक भावुक और विचारशील होता है, किन्तु वह अपने अनुभव को अपने तक सीमित नहीं रखना चाहता है। वह अपने

हृदय का रस दूसरों तक पहुंचाकर उनको भी अपनी तरह प्रभावित करने को उत्सुक रहता है। इस प्रकार काव्य के दो पक्ष हो जाते हैं, एक अनुभूति-पक्ष और दूसरा अभिव्यक्ति पक्ष। इसी को भाव-पक्ष और कला-पक्ष भी कहते हैं।'

इसके आगे ही वे फिर लिखते हैं–'पाश्चात्य समीक्षकों द्वारा प्रतिपादित काव्य के चार तत्व (रागात्मक तत्व, कल्पना तत्व, बुद्धि-तत्व और शैली-तत्व) इन्हीं दो पक्षों से सम्बन्धित हैं। इन तत्वों में रागात्मक तत्व की प्रधानता है। इसका संबंध अनुभूति से है। कल्पना नये-नये उपस्थित कर दोनों को बल देती है शैली-तत्व का संबंध अभिव्यक्ति से है। इससे मानसिक पक्ष रहता अवश्य है किन्तु इसमें बल कलात्मक बाह्य पक्ष पर ही है। बुद्धि-तत्व अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों को औचित्य की सीमा से बाहर नहीं जाने देता। बुद्धि-तत्व का निजी स्वरूप है संगति।'

इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट है कि काव्य के तत्व भी काव्य के पक्षों को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक होते हैं इन तत्वों का वर्गीकरण उन्हीं दोनों पक्षों की सीमा से किया गया है। अतएव इससे सिद्ध होता है कि काव्य के दोनों पक्ष बहुत हद तक व्यापकता लिये हुए हैं। (काव्य के तत्वों का वर्णन अगले प्रश्न में देखिये। पिष्टपेषण से बचने के लिए यहां उनका विवरण नहीं दिया जा रहा है।

इस सन्दर्भ में हमें यह बात भी स्मरण करनी चाहिए कि काव्य की परिभाषा करने के क्रम में संस्कृत के जो विभिन्न सम्प्रदायों बताये जाते हैं उन सम्प्रदायों का दृष्टिकोण भी इन्हीं दोनों काव्य-पक्षों के भीतर अन्तर्भूत हो जाता है। इसके समर्थन में बाबू गुलाबराय की पंक्तियां प्रस्तुत करना अनुपयुक्त न होगा उन्होंने लिखा है—इन सम्प्रदायों में रस सम्प्रदायों ने अनुभूति-पक्ष की प्रधानता दी है। अभिव्यक्ति को भी उसने रस के पोषक और सहायक रूप में स्वीकार किया है। अलंकार वक्रोक्ति और रीति सम्प्रदायों ने अभिव्यक्ति की ओर अधिक ध्यान दिया है। ध्वनि

सम्प्रदाय यूरोप के कल्पनावादियों के अधिक निकट आता है, क्योंकि ध्वनि में कल्पना का अधिक प्रयोग होता है।'

उपर्युक्त विवेचन के बाद यह कहा जा सकता है कि भावपक्ष-काव्य की आत्मा या काव्य के सत्य से सम्बन्ध रखता है कवि की अनुभूति ही इस सत्य का दर्शन कराती है इसका सम्बन्ध न केवल हृदय से है वरन् हमारे मन-मस्तिष्क से भी है। यही कारण है कि भाव पक्ष के भीतर रागात्मक तत्व बुद्धि तत्व और कल्पना तत्व—सभी को समाविष्ट किया जाता है। इसमें रागात्मक तत्व या भाव का सर्वोपरि स्थान है।

रागात्मक तत्व—कवि की कल्पना को प्रेरणा देने वाला तत्व है अतएव यह सर्वाधिक प्रभावशाली होता है। वास्तव में भाव की तीव्रता से ही अभिव्यक्ति को उद्दीपन मिलता है। भाव मनोवेगों का संस्कार रूप में प्रतिष्ठित स्मृत और पुनः अनुभूति स्वरूप है। भाव संक्रामक होते हैं। उनकी अभिव्यक्ति दूसरों के हृदय में भी उसी प्रकार की अनुभूति जाग्रत करती है। भाव काव्य का बड़ा व्यापक तत्व है। यह पाठक और श्रोता का भी संस्कार करता है।⋯ ⋯बिना किसी उक्ति चमत्कार या बौद्धिक प्रयत्न के भी भाव-तत्व का गहरा प्रयत्न काव्य में रहता है। यह काव्य का प्रकृत रूप है। (डा० भगीरथ मिश्र काव्य शास्त्र)

इसी क्रम में यह भी बताना आवश्यक है कि कल्पना के माध्यम से आये चित्र भाव को प्रेरित करते हैं। वे विचारों को भी उत्तेजित करने की शक्ति रखते हैं। डा० मिश्र के अनुसार सूक्ष्म विशेषताओं और गुणों को चेष्टा क्रियाकलाप और अभिव्यक्ति के प्रयोजन को तथा भाव की उलझन तीव्रता और प्रभाव को कल्पना की सहायता से बिना पूर्णतया प्रकट नहीं किया जा सकता।

इसी प्रकार विचार तत्व या बुद्धि तत्व—भाव और कल्पना आदि के ठीक संयोजन और शब्दादि के प्रयोग को औचित्यपूर्ण बनाने में अत्यंत आवश्यक होता है। औचित्य के अभाव में विश्वसनीयता और प्रभाव नष्ट हो जाते हैं।

काव्य का कला पक्ष—मुख्यत: शब्द से सम्बन्ध रखता है क्योंकि डा. श्याम सुन्दर दास के शब्दों में, 'कविता मुख्यत: शब्द की साधना है।' डा. भगीरथ मिश्र के अनुसार 'अर्थ के द्योतन के अतिरिक्त काव्य में, विशेष रूप से कविता में शब्द तत्व की विशेषता विद्यमान देखने को मिलती है। अलंकारों शब्दगत चमत्कार, विविध-वृत्तियों-पुरुषा कोमला उपनागरिका का नियोजन का शब्द-चयन से उत्पन्न पद की एक विशेष गति और प्रवाह संगीतमयता आदि शब्द-तत्व के विविध रूप हैं। आगे इसकी महत्ता को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—'काव्य का श्रुतिगत् प्रथम प्रभाव इसी तत्व के द्वारा पड़ता है और यही कविता की किसी पंक्ति को चिरकाल तक स्मरणीय भी बनाये रखता है। इतना ही नहीं, शब्द-तत्व कवि की भाव-लहरी और कल्पना का प्रेरक भी होता है। शब्द-समूह से बनी गति से प्रेरित होकर प्राय: सबसे पहले कवि के अन्त:करण से छन्द जाग्रत होता है। छन्द को प्रत्यक्ष करने के बाद ही काव्य-रचना का कार्य प्रारम्भ होता है। छन्द के विविध साँचों का निर्माण शब्द तत्व द्वारा ही होता है। शब्द की गति दो प्रकार की होती है, एक साधारण और दूसरा नर्तन। साधारण गति गद्य में और नर्तन गति पद्य में देखने को मिलती है। अत: भाव और अर्थ के अतिरिक्त शब्द की गति और झलक का काव्य में महत्वपूर्ण स्थान है—होता है।'

यहाँ इस तथ्य को भी दृष्टि में रखना अपेक्षित होगा कि अर्थतत्व—काव्य का अनिवार्य तत्व होता है, बिना अर्थ काव्य का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता, क्योंकि अर्थ ही भाव एवं कल्पना का वाहक और सत्य का स्वरूप है। यह अर्थ भी शब्द की ही प्रधान शक्ति है।

अर्थद्योतक के लिए अभिधा लक्षणा व्यंजना-तीन प्रमुख शब्द-शक्तियाँ मानी गयी हैं। काव्य के अन्तर्गत तीनों का स्थान है। डा० मिश्र के शब्दों में 'अर्थ की अधिक रमणीय अभिव्यंजना द्वारा .चमत्कारित अभिव्यक्ति लक्षणा द्वारा और स्वाभाविक अभिव्यक्ति अभिधा द्वारा होती है।'

शब्द और अर्थ को ही ध्यान में रखकर शब्दालंकारों और अर्थालंकारों

का महत्त्व कलाप के अन्तर्गत किया जाता है। इसी क्रम में ऊपर शब्द या पद की तीन वृत्तियों–पुरुषा, कोमला और उपनागरिकता की ओर संकेत (डॉ० मिश्र के कथन में) हो चुका है। इन्हीं वृत्तियों को पुरुषा मधुरा और प्रौढ़ा कहा गया है। इनका आधार गुणों का माना गया है। गुण भी तीन हैं–ओज माधुर्य और प्रसाद, जो क्रमशः इनके आधार पर हैं। इन्हीं गुणों के अनुसार पद या काव्य-रचना की रीतियाँ-गौड़ी, वैदर्भी और पांचाली (क्रमशः) हैं। वस्तुतः ये सभी बातें शैली-पक्ष की हैं, जिनका विशिष्ट महत्व काव्य के कला-पक्ष में मान्य है।।

अन्त में निष्कर्ष रूप में में डॉ० श्यामसुन्दर दास के शब्दों में, कह सकते हैं–'भाव तो प्रत्येक कविता के मूल में होंगे ही, परन्तु उन भावों को भाषा का स्वरूप देना, भाषा को उचित रीतियों के अनुसार संगठित करना, दोषों को उससे दूर रखना; सरांश यह कि भाषा की लक्षणा, व्यंजना आदि शक्तियों को उद्बुद्ध और पुष्ट करके उन भावों को रसमय बना देना–यह साहित्य के कला-पक्ष का काम है। यद्यपि भावों की प्रधानता सबको मान्य है किन्तु भाषा के बिना तो भावों का आस्तित्व ही नहीं रहता और भाषा को परिपाटी के अनुसार सज्जित करने से ही कला का उद्गम होता है अतः यह कहा जाता है कि कलात्मक रीति से सजी हुई भाषा जिसमें भावों की व्यंजना होती है, कविता है। प्रसिद्ध कला-शास्त्री क्रोचे के नवीन अनुसंधानों का एक सुन्दर परिणाम हुआ है कि भाव और भाषा एक हो गये हैं और काव्य-विवेचन मे दोनों के द्वन्द्व की आवश्यकता नहीं रही किन्तु भारत के कलाशास्त्री कविराज विश्वनाथ ने कई शताब्दियों पूर्व काव्य की व्याख्या रसात्मक वाक्य करके की थी जिसमें वाक्य के अन्तर्गत ही कविता के सब उपकरण आ जाते हैं। उसी वाक्य का उत्कर्ष करने वाली गुणालंकार रीतियाँ और अपकर्ष करने वाले विविध काव्य दोष हैं। बिना भाषा के भाव नहीं रह सकता। भाषा स्वयं ही भाव मूर्ति है। इस तथ्य पर विचार करने से कविता के भाव-पक्ष और कला पक्ष में अभेद की स्थापना हो जाती है। भाषा की स्थापना भावों की साधना के साथ-साथ

चल सकती है और चलनी चाहिये।'

इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि काव्य के दो पक्षों का पृथक्-पृथक् विभाजन-आलोचना और अध्ययन के लिए ही हुआ है। वस्तुतः दोनों के बीच सीमा रेखा खींचना कठिन है अनेक तत्व ऐसे हैं, जो दोनों से संबंध रखते हैं। अतः ये दोनों पक्ष अन्योन्याश्रित हैं।

१२—काव्य के प्रधान तत्वों का आलोचनात्मक परिचय प्रस्तुत कीजिये।

काव्य का कर्ता कवि होता है। वह सामान्य मनुष्य की तुलना में अधिक भावुक एवं विचारशील होता है। वह जो कुछ अनुभव करता है, उसे अपने तक ही सीमित नहीं रखना चाहता, अपितु अपने अनुभव को—हृदय के रस या मानसिक विचार को—दूसरे के निकट भी पहुंचाना चाहता है। उसकी यह उत्सुकता इसलिए होती है कि वह अपनी ही तरह और मनुष्य को भी प्रभावित करना चाहता है।

उक्त आधार पर क़ाव्य के दो पक्ष माने गये हैं—अनुभूति पक्ष भाव (भाव-पक्ष) और अभिव्यक्ति पक्ष (कला-पक्ष)। इन्ही दोनों पक्षों से सम्बन्ध रखने वाले काव्य के विभिन्न तत्व होते हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य के इन तत्वों की संख्या चार मानी है।

(१) रागात्मक तत्व, (२) कल्पना तत्व, (३) बुद्धि तत्व और (४) शैली तत्व।

इस प्रसंग में डॉ० भगीरथ मिश्र ने काव्य के लक्षणों को दृष्टि में रखकर काव्य के तत्वों का बहुत सुन्दर विश्लेषण किया है। अतः उन्हीं के अनुसार प्रमुख और अधिक मान्य लक्षणों को सामने रखकर हमें काव्य-तत्वों का विवेचन करना अधिक संगत लगता है। वे अधिक मान्य लक्षण अधोलिखित हैं :—

१. वाक्य रसात्मक काव्यम्।
२. रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।
३. अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्य है।

४. सत्य के अपने मूल चारुत्व में अभिव्यक्ति काव्य है।

५. Poetry is the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason.

६. Poetry is the expressing in melodious words. thoughts. which are the creations of imagination and feeling.

६. काव्य, कल्पना और अनुभूति से गृहीत सत्य की रमणीय शब्दों में अभिव्यक्ति है।

८. शब्द, अर्थ अथवा दोनों की रमणीयता से युक्त वाक्य-रचना काव्य है।

डॉ० मिश्र ने इन लक्षणों पर दृष्टिपात करने के पश्चात इस प्रकार लिखा है–'प्रथम तीन परिभाषाओं पर विचार करने से वाक्य या शब्द अर्थ रमणीयता, गुण अलंकार ये—काव्य तत्व प्रकट होने हैं। इनमें; रस, गुण अलंकार रमणीयता के ही विभिन्न साधनों के रूप हैं। चौथी परिभाषा में सत्य चारुत्व और अभिव्यक्ति–ये तत्व निकलते हैं। पाँचवीं से कल्पना युक्ति, सत्य और आनन्द और कला तथा छठी परिभाषा में अभिव्यक्ति की कला, माधुर्य शब्द, और विचार, कल्पना और अनुभूति ये तत्व निकलते हैं। सातवीं और आठवीं परिभाषायें पूर्ववर्ती धारणाओं पर ही आश्रित है, उनमें भी कल्पना, अनुभूति, सत्य, शब्द आदि तत्व पूर्ववर्ती धारणाओं पर आश्रित हैं, उनमें भी कल्पना, अनुभूति, सत्य, शब्द आदि तत्व पूर्ववर्ती लक्षणों के समान विद्यमान हैं। शब्द, अर्थ, सत्य, आनन्द, रमणीयता, कल्पना, विचार, अनुभूति, अभिव्यक्ति, कला रस, गुण, अलंकार आदि में सभी बातें आ जाती हैं। इन बातों का परीक्षण करें, तो हम देखते हैं कि शब्द, अर्थ, अभिव्यक्ति ये तीनों भाषा के तत्व हैं; रस आनन्द, अनुभूति रमणीयता आदि भाव-तत्व के अन्तर्गत हैं; रमणीयता, कला, अभिव्यक्ति-कौशल आदि कल्पना-तत्व से सम्बन्ध रखते हैं इन सबको संगठित करके कलात्मक अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्तुत

करना बुद्धि और विचार-तत्व का कार्य है। परन्तु इन सब में व्याप्त रहता है सत्य। ऐसी दशा में हमें यह स्वीकार करना होगा कि काव्य में सत्य की ही अभिव्यक्ति होती है, असत्य की नहीं। सत्य की अभिव्यक्ति करके ही काव्य खड़ा रह सकता है। सत्य के कारण ही काव्य का अस्तित्व है और उसको ग्रहण करने की प्रेरणा हमें मिलती है।

यहाँ हमें यह जान लेना चाहिए की काव्य का सत्य वैज्ञानिक या दार्शनिक के सत्य-जैसा नहीं होता वरन् वह भिन्न होता है। इसका कारण यह है कि सत्य सार-मात्र नहीं वरन् साकार होता है। उसकी अभिव्यक्ति और सांगोपांग रूप में, उसकी समस्त गतशीलता और उसके समस्त क्रिया-कलाप के साथ होती है। दूसरे शब्दों में सत्य का यह वास्तविक रूप होता है और यही काव्य की आत्मा है। सत्य का समग्र रूप ही सौंदर्य है। इसीलिए कवि के द्वारा काव्य में सत्य की अभिव्यक्ति सुन्दर होती है। इसी तथ्य को अनुभव करके 'अंग्रेजी के विख्यात कवि कीट्स ने कहा है—

'Beauty is truth truth is Beauty that is all.'

अर्थात् सौदर्य सत्य है और सत्य सौंदर्य है। यह सत्य कवि का सत्य है। सत्य अपने स्वभाव से ही शिवत्व-गुण-संपन्न होता है यानी मंगलरूप या कल्याणप्रद होता है। अतः काव्य का सत्य सुंदर और शिव भी है। इसी युक्त के आधार पर काव्य 'सत्यं, शिवं सुन्दरम्' के रूप में स्वीकार्य है।

काव्य के इस सत्य के साकार रूप पाँच तत्वों-शब्द अर्थ भाव कल्पना और बुद्धि या विचार से प्राप्त होता है। इसमें जो भाव तत्व हैं, वही ऊपर पाश्चात्य आलोचकों की भाषा में रागात्मक तत्व के नाम से बताया जा चुका है। शब्द अर्थ के तत्व शैली-तत्व के भीतर समाहित हैं। वैसे इनका सम्बन्ध अन्य तत्वों से पृथक् न होकर परस्पर अन्योन्याश्रित है। इनमें मुख्य रूप से भाव-तत्व, कल्पना-तत्व और बुद्धि तत्व का ही उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

भावतत्व—यह तत्व काव्य से सर्वाधिक प्रभाव उत्पन्न करने वाला होता है। इसकी कल्पना से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कल्पना को प्रेरणा इसे मिलती है। यही वह तत्व है जो छन्द के स्वरूप का निर्माण करता है और शब्द प्रवाह के श्रोत को खोलता है। भाव की तीव्रता से ही अभिउद्दीप्त होती है। डॉ० मिश्र के शब्दों में भाव मनोवेगों का संस्कार रूप में प्रतिष्ठित स्मृत और पुनः अनुभूति स्वरूप है। भाव संक्रामक होते हैं। उनकी अनुभूित दूसरों के हृदय में भी उसी प्रकार की अनुभूति जाग्रत करती है। भाव, काव्य का बड़ा व्यापक तत्व है।

भावों से पाठक और श्रोता का भी संस्कार होता है। इस तत्व को साकार रूप देने वाले शब्द अर्थ और कल्पना हैं। काव्य यदि उक्ति चमत्कार या बौद्धिक प्रयत्न न भी हो, तो भी भाव-तत्व का गहरा प्रभाव रहता है। यह काव्य का स्वाभाविक रूप है। संगीतात्मकता को भी भाव से ही प्रेरणा मिलती है।

कल्पनातत्व—काव्य मे इस तत्व का कार्य है–रूप-सृष्टि। जीवन के विभिन्न दृश्यों को हमारे सामने प्रस्तुत करना कल्पना-शक्ति का ही कार्य है डॉ० मिश्र के शब्दों में–'निराकार वस्तुओं और भावों को आकार देना, तथ्य को चित्रमय बनाना, चरित्र या पात्र के व्यक्तित्व को साक्षात करना घटना की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करना और भाव को जगाने वाले चित्र अंकित करना, कल्पना के द्वारा ही सम्भव होता है। कवियों की बिंब-योजना, उनके द्वारा हृदयगम किये हुए तथ्यों और भावों की सजीव अभिव्यक्ति कल्पना के सहारे ही होती है अतीत को वर्तमान बनाना सुदुरस्थ को प्रत्यक्ष करना और जीवन के अनुभव और ज्ञान को एक निश्चित रूप प्रदान करना, कल्पना का प्रसार है। काव्य के अन्तर्गत सत्य का दृश्यों, पात्रों, घटनाओं रूपों आदि के द्वारा हम साक्षात्कार करते हैं, अतः इस कार्य के लिए कल्पना तत्व का प्रधान महत्व है।'

कल्पना के द्वारा जो चित्र आते हैं, उनसे भावों को प्रेरणा मिलती

है और उनके विचार भी उत्तेजित होते हैं। किसी भी सूक्ष्म विशेषता, गुण, चेष्टा क्रिया-कलाप तथा अभिव्यक्ति के प्रयोजन को और भाव की उलझन, तीव्रता तथा प्रभाव को कल्पना की सहायता से ही व्यक्त करना पूर्णतः प्रत्यक्ष करना—सम्भव हो सकता है, अन्यथा नहीं। डॉ. मिश्र कहते हैं—जिस प्रकार भाव की अनुभूति आनन्दमयी है, उसी प्रकार कल्पना की झाँकी भी मधुर और संवेद्य है। सुख या दुःख चाहे जिसके चित्र यह कल्पना की चित्रावली प्रस्तुत करें, हम उसे देखने की अटूट तृष्णा से ओत-प्रोत हैं वास्तव में कल्पना की सामर्थ्य ही कवि की प्रतिभा है। विभिन्न अलंकार इसी के परिणाम हैं।'

बुद्धि-तत्व या विचार-तत्व—का काव्य में इसलिए महत्व है कि भाव कल्पना आदि का ठीक संयोजन और शब्द का प्रयोग औचित्यपूर्ण हो। काव्य में यदि औचित्य का ध्यान न रखा जाय, तो विश्वसनीयता और प्रभाव समाप्त हो जाते हैं। कथा-संगठन चरित्र-चित्रण और भावनिरूपण मे बुद्धितत्व का स्वरूप प्रधान है। यथेष्ठ प्रभाव के उद्देश्य से प्रबन्ध काव्य के भीतर घटनाओ के चुनाव और संगठन पर ध्यान देना इसी तत्व का क्षेत्र है। चरित्रचित्रण में पात्र के जीवन की घटनाओं, कार्यों, वार्तालापों आदि में औचित्य का होना अनिवार्य है, जो बुद्धितत्व के सहारे ही सम्भव होता है। भाव निरूपण और वर्णन में भी ऐसी ही बात है। किन चेष्टाओं और मनोविकारों को किस पृष्ठभूमि में किस प्रकार दिखाना चाहिए जिससे इच्छित भाव का स्पष्टीकरण हो सके इसका विचार करके किया गया भाव-निरूपण ही सफल कहा जा सकता है। ऐसा न होने पर प्रभाव पड़ना सम्भव नहीं। विचार या बुद्धि-तत्व से रहित कोई वर्णन उपाहासास्पद हो जाता है। अतः यह कहना उचित होगा कि बुद्धि-तत्व से काव्य का स्वरूप निश्चय ही उत्पन्न होता है।

दृष्टित्य शब्द और अर्थ-तत्व पर यहाँ विशेष प्रकाश नहीं डाला गया है। पिछले प्रश्न में ही इन दोनों के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक बातें

कह दी गयी हैं। उनकी जानकारी पाठक वहीं से कर लें।

प्रश्न १३—काव्य में 'सत्यं, शिवम् सुन्दरम्' का आधार स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न १२ के उत्तर काव्य के लक्षणों की दृष्टि मे रखकर डा. भगीरथ मिश्र के अनुसार जो कुछ कहा गया है, वही इस प्रश्न का उत्तर होगा इसके अतिरिक्त कुछ बातें प्रश्न २ और ६ के उत्तर से ग्रहण की जानी चाहिए। पिष्टपेषण से बचने के लिए हम ऐसा संकेत देकर आगे बढ़ रहे हैं। पाठक संकेतानुसार देखने का कष्ट करें।

प्रश्न १४—'काव्य की आत्मा रस है।' इस कथन को ध्यान में रखते हुए रस के अंगों का सम्यक् परिचय दीजिए।

भारतीय काव्य-शास्त्र में जो काव्य की परिभाषाएँ दी गयी हैं, उनका संबंध काव्य की आत्मा से है। संस्कृत के विभिन्न आचार्यों ने इस पर अपना-अपना मत दिया है। शब्द और अर्थ को तो काव्य का शरीर माना गया है किन्तु काव्य की आत्मा क्या है? इस प्रश्न पर पर्याप्त मत-भेद है। 'नाट्य-शास्त्र' के प्रेणता आचार्य भरत मुनि ने ही सबसे पहले रस को काव्य की आत्मा माना क्योंकि नाटक में रस का विशेष स्थान है उनके बहुत बाद साहित्य-दर्पण के रचयिता महापात्र आचार्य श्री विश्वनाथ ने भी रस को काव्य की आत्मा मानते हुए कहा—'वाक्यं रसात्मकं काव्यं।'

किन्तु अन्य आचार्य दण्डी और भामह ने 'अलंकारों' को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया। (ये आचार्य अलंकार-सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं, इन्हें अलंकार-वादी कहा जाता है।) हिन्दी के प्रसिद्ध आचार्य केशवदास भी इसी मत को स्वीकार करने वाले थे। डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' भी अलंकारों को ही काव्य की आत्मा मानते हैं।

आचार्य कुन्तक तथा वक्रोक्ति सम्प्रदाय के अन्य समर्थकों ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना है—'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्।

आचार्य वामन और उनके रीति-सम्प्रदाय से सम्बन्धित विद्वान् 'रीति' को ही काव्य की आत्मा स्वीकार करते हैं-'रीतिरात्मा काव्यस्य।'

ध्वनि-सम्प्रदाय के समर्थन और आनन्दवर्द्धनाचार्य ध्वनि को ही काव्य की आत्मा कहते हैं—'काव्यस्यात्मा ध्वनिरीति।'

इस स्थान पर यह बात देना भी अनुपयुक्त न होगा कि रस-सम्प्रदाय ही इन सम्प्रदायों में प्रमुख रहा है। रस सम्प्रदाय के बाद महत्वपूर्ण स्थान ध्वनि-सम्प्रदाय का है। इन दोनों ने एक दूसरे का महत्व स्वीकार किया है। ध्वनि सम्प्रदाय ने रस को भी ध्वनि का एक अंग तो माना, किन्तु कहा कि 'रस ध्वनि' ही श्रेष्ठ है। इसी प्रकार रस-सम्प्रदाय से को व्यंग्य मानकर ध्वनि की महत्ता स्वीकार की। अलंकार सम्प्रदाय ने रस भी रस को सीधे न लगाकर घुमाकर माना और इसे रसवत् अलंकार नाम दिया। आचार्य मम्मट ने अपने 'काव्य-प्रकाश' में जो काव्य की परिभाषा दी उसमें भी रस को परोक्ष रूप में प्रमुखता मिल गयी। इस तथ्य को गुलाबराय जी ने यों लिखा है—'मम्मट ने गुण और दोनों की व्याख्या रस केही सम्बद्ध रसोंसेकी है अवगुणों को रस के उत्कर्ष के और दोषोंको अपकर्ष के कारण कहा है इस प्रकार रस को ही प्रधानता न देते हुए (भी) प्रधानता मिल जाती है।' अतः यह निष्कर्ष निकला कि अधिकांश विद्वान रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार करते हैं ऐसा इसलिए भी है कि काव्य में अनुभूति पक्ष प्रदान है और अभिव्यक्ति पक्ष गौण है। यदि अनुभूति ही न हो, तो अभिव्यक्ति किसकी होगी? रस-सम्प्रदाय, इसीलिए, अनुभूति पक्ष को प्रधानता देता है और उसी आधार पर रस निश्चयात्मक रूप से काव्य की आत्मा ठहरता है।

यों तो अब काव्य के अन्य अंगों में भी रस को मान्यता मिल गयी है किन्तु संस्कृत साहित्य में नाटकों के प्रसंग में रस की अत्यधिक व्याख्या की गयी है, क्योंकि रस नाटक का अभिन्न और महत्वपूर्ण तत्व है। इसी लिए रस और उसके सम्बन्ध मे अन्य बातों की विस्तृत चर्चा 'नाट्यशास्त्र' (भरत मुनि द्वारा प्रणीत) में उपलब्ध है। यह रस-निष्पत्ति का विवेचन

मारा उद्देश्य तो नहीं है, किन्तु रस के अवयवों या अंगों के प्रसंग में भरत
नि का रस-निष्पत्ति बताने वाला सूत्र प्रस्तुत करना आवश्यक जान पड़ता
जो इस प्रकार है :—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति ।'

अर्थात् 'विभाव अनुभाव और व्यभिचारी या संचारी भाव के संयोग रस की निष्पत्ति होती है । इसका संयोग होता है स्थायी भाव से ।'

इस प्रकार के चार प्रमुख अंग माने जाते हैं—

(१) विभाव (२) संचारी भाव (३) अनुभाव (४) स्थायी भाव ।

(कोई आवश्यक नहीं कि इन्हें इसी क्रम से रखें, चाहे जैसे रख सकते हैं ।) इन चारों अंगों का विवरण अधोलिखित है :—

१. विभाव—उन्हें कहा जाता है, जो विशेष रूप से भावों को प्रकट करते हैं । वस्तुतः इन्हें कारण-रूप माना गया है । स्थायी भाव के प्रकट होने का जो मुख्य कारण होता है उसे आलम्बन विभाव कहते हैं । इसका आलम्बन ग्रहण करके ही रस की स्थिति होती है । स्थायी भाव जब प्रकट हो जाता है तब जो कारण उसे अधिक प्रबुद्ध उद्दीप्त और उत्तेजित करते हैं, उन्हें उद्दीपन विभाव' कहा गया है । जैसे हास एक स्थायी भाव है, किसी बेढंगे व्यक्ति या विकृत रूप वेश भूषा को देखकर यह प्रकट हो गया, तो उस विकृत रूप तथा वेश-भूषा वाले व्यक्ति को आलम्बन कहा जायगा । इसके बाद उसके क्रिया-कलाप से इस भाव में उद्दीपन होता है, अतः क्रिया कलाप को उद्दीपन-विभाव कहेंगे । जिस व्यक्ति के अन्तर्गत स्थायी भाव या अन्य भाव प्रकट होते हैं, उसे आश्रय कहेंगे । इस तरह आलम्बन उद्दीपन—ये दो प्रकार के विभाव हैं और आश्रय वह व्यक्ति है जिसमें स्थायी भाव प्रकट होता है—

२. संचारी भाव—वे हैं, जो स्थायी भाव के साथ संचरण करते हैं । इनके द्वारा स्थायी भाव की स्थिति की पुष्टि होती है जैसे जल में लहरें उठती और मिट जाती हैं या बुदबुदे उठते और समाप्त हो जाते हैं उसी

प्रकार इन संचारी भावों की भी स्थिति—ये थोड़ी देर के लिए आते और अपना काम करके विलीन हो जाते हैं—रस की अन्तिम स्थिति इन रहना संभव नहीं। 'एक रस के स्थाई भाव के साथ अनेक संचारी भा आते हैं। इन्हें व्यभिचारी भाव भी कहते हैं क्योंकि एक संचारी भा किसी एक स्थाई भाव या रस के साथ नहीं रहता है, वरन् अनेक रसों देखा जा सकता है, जो उनका व्यभिचरण है। जैसे शंका वियोग शृंगा में आती है, करुण में भी और भयानक में भी एक संचारी भाव का कि एक स्थाई भाव या रस में संबंध नहीं अत: इसे व्यभिचारी भाव भी कह हैं। व्यभिचारी या संचारी भावों की कुल संख्या ३३ है :—१—निर्वे २—ग्लानि, ३—शंका, ४-श्रम, ५—धृति, ६—जड़ता, ७—हर्ष, ८—दैन्य ९—उग्रता, १०—चिन्ता, ११—त्रास. १२. असूया. १३—अमर्ष १४—गर्व. १५—स्मृति, १६—मरण, १७—मद, १८—स्वप्न. १९—निद्रा २०—विबोध, २१—व्रीड़ा, २२—अपस्मार. २३—मोह. २४—मति २५—अलसता. २६—आवेग. २७—तर्क. २८—अवहित्था. २९—व्याधि ३०—उन्माद. ३१—विषाद. ३२—औत्सुक्य और ३४—चपलता।

इस स्थल पर डा० श्याम सुन्दरदास जी लिखते हैं—'परन्तु इस यह न समझना चाहिए कि इतने ही में इनकी समाप्ति है। प्राचीन आचार्य ने काव्यों में इतने ही संचारियों को पाया अतएव उन्होंने इतने की ही उल्लेख किया है। परम्परा-पालन की प्रवृत्ति के कारण आगे का आचार्य भी तैंतीस की ही संख्या से बंधे रहे और यदि किसी को अन्य संचारी सू भी तो उनको इन्हीं तैंतीस में से किसी के अन्तर्गत लाकर ठूँस देने क व्यवस्था कर दी गई। मात्सर्य. उद्वेग. दम्भ. ईर्ष्या. विवेक निर्णय क्षमा उत्कण्ठा. धृष्टता आदि भावों का भी संचारित्व देखने में आता है। परन्तु रस तरंगिणीकार की सम्मति है कि इन्हें असूया. त्रास अवहित्था. अमर्ष मति (विवेक और निर्णय दोनों को) धृति. औत्सुक्य और चपलता के अन्तर्गत समझना चाहिए। केवल देव कवि ने हिन्दी में छल को अल ही चौंतीसवाँ संचारी माना।

३. अनुभाव—वे अन्तस्थ भावों हैं जो अंगविकार, शारीरिक चेष्टाओं आदि के रूप में प्रकट होते हैं। ये भावों के पश्चात् उत्पन्न होते हैं इसीलिए इन्हें अनुभाव कहा गया है, किन्तु ये भाव-सूचक होते हैं। नाट्य शास्त्र के अनुसार वाणी और अंगों के अभिनय द्वारा जिससे अर्थ प्रकट हो वे अनुभव हैं। डा० श्यामसुन्दरदास के शब्दों विभाव भाव को अंकुरित करता है परन्तु अनुभाव उसे आस्वाद-योग बना देता है। आलम्बन और आश्रय को अनुभवों से एक-दूसरे के भावों का जानने में मदद तो मिलती है किन्तु डॉ० दास के ही शब्दों में, 'इससे अधिक महत्व अनुभवों का प्रक्षेक की दृष्टि से है, क्योंकि उन्हीं के द्वारा स्थायी भाव रस का रूप प्राप्त कर उसके हृदय में आस्वाद के रूप में आविर्भूत होता है। (प्रेक्षक = नाटक का दर्शक)।

अनुभावों को मुख्यत: तीन प्रकारों में विभक्त किया है—

१—कायिक २—मानसिक और ३—सात्विक।

कायिक अनुभाव—आन्तरिक अनुभूति के सूचक शारीरिक चेष्टाओं को कहा जाता है।

मानसिक अनुभाव—स्थाई भाव के कारण उत्पन्न हुए अन्य भाव अथवा मनोविकार मानसिक अनुभाव कहे जाते हैं।

सात्विक अनुभाव—मन की अत्यन्त विह्वलकारी दशा से उत्पन्न मनोविकार सात्विक कहे जाते हैं।

कुछ लोगों ने अहार्य नामक एक अलग अनुभाव बताया है जिसमें वेश बदलकर भाव-प्रदर्शन किया जाता है, किन्तु वास्तव में यह अभिनय का एक अंग है अनुभाव नहीं जैसा कि डॉ० दास ने स्पष्ट किया है।

अनुभावों की भी गणना सम्भव नहीं। किन्तु सात्विक अनुभावों (जो अनायास सहज रूप से प्रकट होते हैं) की संख्या आचार्यों ने आठ बताया है :—

१—स्तम्भ, २—स्वेद, ३—रोमांच, ४—स्वरभंग, ५—वेपथु, ६—वैवर्ण्य, ७—अश्रु और ८—प्रलय (मूर्च्छा)।

इन अनुभावों की व्याख्या डॉ. दास ने इस प्रकार की है—'जीवन के लक्षणों के बने रहते कर्मेन्द्रियों की सब गतियों का एकाएक रुक जाना स्तम्भ कहलाता है। बिना परिश्रम किए हुए पसीना बह निकलना स्वेद सात्विक भाव है। रोमांच में हर्ष भय क्रोध आदि के कारण रोम खड़े हो जाते हैं। शारीरिक रोग के अभाव में स्वाभाविक ध्वनि के बदल जाने को स्वर-भंग कहते हैं। हर्षाधिक्य अथवा भय या क्रोध के कारण अंग-अंग का सहसा काँप उठना वेपथु (कम्प) कहलाता है। ज्वर अथवा क्षीणता के कारण जो कम्प होता है वह सात्विक के अन्तर्गत नहीं आवेगा क्योंकि वह किसी आंतरिक अनुभूति का लक्षण नहीं है शरीर के फीके पड़ जाने (रंग उतर जाने) को वैवर्ण्य कहते हैं। यह भी हर्ष शोक के कारण आँखों से जो जल-धारा बहती है उसे अश्रु कहते हैं। धुएं से अथवा जुकाम इत्यादि रोगों के कारण आँखों से जो आँसू निकलते हैं वे सात्विक के अन्तर्गत नहीं आते। अपनी सुध-बुध भूल जाने को प्रलय (मुर्च्छा) कहते हैं।

४—स्थायी भाव—वे मुख्य भाव हैं जो रसत्व को प्राप्त हो सकते हैं और होते हैं। रस रूप में जिनकी परिणति हो सके वे भाव ही स्थाई हैं, अन्य नहीं। अन्य भाव तो थोड़ी देर के लिए ही होते हैं, किन्तु स्थाई भाव काफी देर तक स्थित रहते हैं। नाटक के भीतर ४१ भावों की गणना की गई है किन्तु उनमें से ८ ही ऐसे हैं जो रसत्व को प्राप्त होते हैं, ऐसा 'भरत मुनि' का मत है। डॉ० भगीरथ मिश्र इस मत से सन्तुष्ट नहीं जान पड़ते। वे लिखते हैं—'स्थाई और संचारी में अन्तर यही है कि स्थाई और अधिक प्रबल और देर तक रहने वाले मनोविकार हैं और संचारी क्षण-स्थाई मनोविकार। जो भी भाव प्रबल और देर तक रहने वाले हैं वे सभी रसत्व की स्थिति प्राप्त कर सकते हैं।'

स्थाई भावों की संख्या, जैसा कि ऊपर कह चुके हैं भरत मुनि ने ८ मानी है, जो निम्नांकित हैं :—

१—रति. २—हास. ३—क्रोध. ४—उत्साह. ५—भय. ६—जुगुप्सा. ७—विस्मय और ८—शोक ।

इनकी व्याख्या—डॉ० दास ने अधोलिखित रूप में की है ।

१. रति—स्त्री-पुरुष के परस्पर प्रेम-भाव को रति कहते हैं ।

२. हास—किसी के अंगों तथा वाणी के विकारों में ज्ञान से जो प्रफुल्लता होती है उसे हास कहते हैं । (विकृत रूप के अतिरिक्त बेढंगी' वेश-भूषा से भी यह सम्भव है) ।

३. क्रोध—अपना कोई बहुत बड़ा बिगाड़ करने पर अपराधी को दण्ड देने के लिए उत्तेजित करने वाली मनोवृत्ति क्रोध कहलाती है । क्रोध से उत्तेजित होकर मनुष्य अपने शत्रुओं को मार डालने तक को उद्यत हो जाता है, परन्तु जब यही मनोवृत्ति कभी छोटे मोटे अपराध से उत्पन्न होने के कारण हल्की ही-सी रहती है; तब यह स्थाई भाव न होकर अमर्ष संचारी कहाती है ।

४. उत्साह—दान, दया और शूरता आदि के प्रसंग से प्रश्नोत्तर उत्पन्न होने वाली मनोवृत्ति को उत्साह कहते हैं ।

५. भय—प्रबल अनिष्ट करने मे समर्थ विषयों को देखकर मन में जो व्याकुलता होती है उसे भय कहते हैं । किन्तु यह व्याकुलता यदि किसी छोटे से अनर्थ के सम्बन्ध से हो और बहुत प्रबल न हो, तो संचारी ही गिनी जायगी, स्थाई नहीं । उस अवस्था में उसे त्रास कहेंगे ।

५. जुगुप्सा—घृणोत्पादक वस्तुओं को देखकर उनसे सम्बन्ध न रखने के लिए बाध्य करने वाली मनोवृत्ति को जुगुप्सा कहते है ।

७. विस्मय—किसी असाधारण अथवा अलौकिक वस्तु को देखकर जो आश्चर्य होता है, उसे विस्मय कहते हैं ।

८. शोक—प्रिय वस्तु से विमुक्त होने पर मन में जो व्याकुलता उत्पन्न होती है, वह शोक कही जाती है ।

भरत मुनि के बाद संस्कृत के आचार्य विश्वनाथ ने काव्य में नौ रस मानकर ६ स्थाई भाव माने हैं—नवाँ स्थाई भाव शान्त रस का 'शम' या

'निर्वेद' है। (भरत मुनि ने नाटक में ८ रस, ८ स्थाई भाव माने हैं) हिन्दी साहित्य को भक्ति-काव्य-धारा के काव्य को देखते हुए अब ११ र. और ११ स्थायी भाव माने गये हैं। इनमें क्रमशः 'वात्सल्य रस' का स्थाई 'पुत्र-स्नेह' और 'भक्ति-रस' का स्थाई भाव 'भगवत्प्रेम' जोड़ लिया गया है। किन्तु अधिक मान्य ६ रस और ६ स्थाई भाव ही हैं।

रस की पूर्ण निष्पत्ति में उपर्युक्त सभी रसांगों की स्थिति आवश्यक मानी गयी हैं। इनके संयोग से ही रस को पूर्णता मिलती है। यही संक्षेप में रसांगों का विवेचन है।

प्रश्न १५—रस-निष्पत्ति से आप क्या समझते हैं? इस संबंध में विविध मतों का संक्षिप्त परिचय देते हुए स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न १६—रस किसे कहते हैं? इसकी निष्पत्ति कैसे होती है?

प्रश्न १७—रस को स्पष्ट करते हुए रसानुभूति का स्वरूप भी समझाइए।

प्रश्न १८—रस-निष्पत्ति को स्पष्ट करते हुए साधारणीकरण का भी विवेचन कीजिए।

तैत्तिरीय उपनिषद में लिखा है—'रसो वै सः' अर्थात् 'रस आनन्द स्वरूप ब्रह्म है।' इससे यह भी ज्ञात होता है कि भारत में रस की धारणा अति प्राचीन है और उसका महत्व भी बहुत व्यापक है। रस, वस्तुतः जीवन का सार है। इसी दृष्टि से भरत मुनि कहते हैं—'नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।' उनका विचार है कि कोई भी काव्यार्थ रसहीन होना ही न चाहिए। यही कारण है कि काव्य के प्रमुख अंग 'नाटक' में उन्होंने रस की प्रधानता देकर अपने 'नाट्य शास्त्र' में रस और उसकी निष्पत्ति की व्याख्या की है। इनके पूर्व रस-सिद्धान्त का उल्लेख अत्यन्त सुलभ नहीं होता। सम्भवतः सर्व प्रथम इन्होंने ही रस को सिद्धांत रूप में स्वीकार करके उसे शास्त्रीय रूप दिया। यों संस्कृत के अन्य विद्वान 'राजशेखर' ने

जिन्होंने रस तरंगिणी लिखी है. नन्दिकेश्वर नामक एक दूसरे आचार्य को जो काम-शास्त्र के आचार्य थे, रस सिद्धांत को प्रवर्तक माना है; किन्तु उनका कोई ग्रन्थ सुलभ नहीं है। चाहे जो हो, नाट्य-शास्त्र में ही सर्व प्रथम इसकी चर्चा होने से कहा जा सकता है कि काव्य-शास्त्र रस-सिद्धांत के लिए नाट्य शास्त्र का ऋणी है। नाटकों के बाद ही काव्य के अन्य भेदों में रस-सिद्धांत को मान्यता मिली है। हाँ, नाट्य-शास्त्र के पूर्व भी रस सिद्धांत शास्त्रीय रूप में नहीं सही वैसे ही काव्यानन्द शब्द के माध्यम से चर्चा का विषय अवश्य था।

उक्त पंक्तियों में यह विदित होता है कि काव्य में रस को, एक आवश्यक तत्व के रूप में, मान्यता प्राचीनकाल से ही मिली हुई है। यही कारण है कि रस की—सिद्धांत की—व्याख्या का प्रयास अद्यावधि जारी है। इस सिद्धांत के प्रकरण में सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न होता है कि रस क्या है? इसे स्पष्ट करते हुए डॉ० भगीरथ मिश्र ने लिखा है—

रस एक प्रकार का विशेष आनन्द है जो काव्य के पठन, श्रवण अथवा नाटक के अभिनय देखने से समाज को प्राप्त होता है—

डॉ० श्यामसुन्दर लिखते हैं–रसों की व्याख्या भावों पर अवलम्बित रहती है।····इन्हीं विशेष भावों के उद्दीप्त और उद्‌बुद्ध होने पर रसों की निष्पत्ति होती है अर्थात् इन लौकिक ओर भौतिक भावों के अलौकिक और काव्यमय स्वरूप को रस कहते हैं।' आचार्य पं. रामचंद्र शुक्ल सत्वो-द्रेक या हृदय की मुक्तावस्था को ही रस की स्थिति स्वीकार करते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है—'आस्वाद्यत्वाद्रसे', अर्थात 'रस का अर्थ है आस्वाद।'

रस की इन परिभाषाओं के पश्चात् यह स्वाभाविक प्रश्न होता है कि रस का आस्वाद कैसे होता है या रस की निष्पत्ति कैसे होती है।

भरत मुनि ने इसके लिए एक सूत्र दिया है—

'विभावानुभावव्यभिचारी सयोगाद्रसनिष्पत्तिः'—अर्थात् विभाव, अनुभाव और संचारी भावो के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है। यह संयोग होता है स्थायी भाव से क्योंकि स्थाई भाव ही रस रूप में परिणित होते हैं—वे ही रस के मूल आधार हैं। इस प्रकार स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव—ये ही रस की सामग्री के रूप मे माने जाते है।

अब यह पुनः स्वाभाविक प्रश्न उठना है कि वह कौन-सी प्रक्रिया है जिससे रस का परिपाक होता है और इस सामग्री से उसका क्या संबंध है? भरत मुनि का सूत्र है तो सीधा सादा, परन्तु उसमे 'सयोग' और निष्पत्ति' का क्या अभिप्राय है, यह ठीक-ठीक ज्ञात नहीं हो पाता। अन्य प्रकार के छोटे-मोटे प्रश्न भी उठाये जाते है और उनका उठना भी स्वाभाविक ही है? जैसे कि किसके साथ सयोग का यहाँ संकेत है? रस की निष्पत्ति किसमे होती है? या रस अथवा आनन्द क्यों, किसको और किस प्रकार प्राप्त है? आदि। अतः इन प्रश्नों का समाधान करने के लिए और भरत मुनि के सूत्र के उक्त शब्दों के अर्थ समझने के लिए आचार्यों ने प्रयास किये। विभिन्न अर्थ करने से रस के सम्बन्ध मे कई सिद्धान्त चल पडे। ये सभी सिद्धान्त विभिन्न दर्शनो की पृष्ठभूमि मे प्रतिपादित है जिनमे विभिन्न शकाओ का यथार्थवादी और शास्त्रीय ढंग से समाधान करने का प्रयास किया गया है।

रस के ये विभिन्न सिद्धांत अधोलिखित हैं—

१ 'भट्ट लोल्लट' का उत्पत्तिवाद—भट्ट लोल्लट का मत है कि निष्पत्ति से भरत का अभिप्राय उत्पत्ति से है और संयोग से अभिप्राय है सबंध से। विभाव कारण है और रस कार्य। दूसरे शब्दो मे विभाव अनुभाव और सचारी का संयोग कारण रूप है जिससे रस की उत्पत्ति होती है। अतः संयोग का तात्पर्य कारण-कार्य सबध है और निष्पत्ति का तात्पर्य है उत्पत्ति। इसी कारण इनके मत को उत्पत्तिवाद कहा जाता है।

लोल्लट की व्याख्या का भाव यह है कि वास्तव में रसानुभूति तो अनुकार्य में होती है जिनका अभिनेता अभिनय करता है, उन वास्तविक चरित्रों में रस की स्थिति थी परन्तु अभिनेता की तदनुरूप वेश-भूषा के कारण एवं उसके कुशल अंग-संचालन अभिनय वार्तालाप आदि के सहारे नाटक के दर्शक या सामाजिक अभिनेता में वास्तविक चरित्र का आरोप कर लेते हैं। आरोप करने के कारण समाज में भी रस की अनुभूति होती है। अत: आरोप की बात मानने के कारण इनका मत आरोपवाद की संज्ञा से भी अभिहित होता है। दूसरे शब्दों में वास्तविक रस अनुकार्य (नाटक आदि पात्रों) में होता है, प्रेक्षक को रस की प्रतीति-मात्र होती है। इसलिए इसे 'प्रतीतिवाद' भी कहा गया है।

लोल्लट का यह मत मीमांसा-शास्त्र'—सम्मत है, क्योंकि वे मीमांसावादी थे। इनके मत में रस वाच्य होता है, व्यंग्य नहीं। जिस प्रकार पुरोहित के माध्यम से यज्ञादि का फल यजमान को प्राप्त होता है, उसी प्रकार अभिनेता या नट के माध्यम से दर्शकों को रस की प्रतीति होती है।

लोल्लट के उक्त मत को स्वीकार करने में कई कठिनाइयाँ और शंकाएं उपस्थित होती हैं। सबसे बड़ी शंका तो वह होती है कि रस को विभावादि कारण द्वारा उत्पन्न कार्य कहना कैसे उचित है? कारण के रहने पर भी कार्य का अस्तित्व रह सकता है, परन्तु तभी तक रहता है, जब तक विभाव आदि का प्रत्यक्ष दर्शन होता रहता है। कारण और कार्य का पूर्वा पर संबंध अनिवार्य है। अत: उक्त शंका का निवारण लोल्लट की परिभाषा में नहीं मिलता। फिर यदि अनुकार्य में रस की स्थिति मानी जाय, तो उसके अनुभव तो लौकिक सुख-दुखों के रूप में होते हैं, उन्हें रस कहाँ तक कहा जा सकता है? ओर उनसे प्रेक्षकों में रस की प्रतीति कैसे हो जाती है? स्थाई भाव तो अनुकार्य में है तो अभिनेता में आरोप करने से प्रेक्षकों को रसानुभूति किस प्रकार हो सकती है? इसमें यह शंका भी

होती है कि अनुकार्य को दर्शक ने देखा नहीं है, तो उसका अनुकर्ता या अभिनेता में आरोप कैसे कर लेता है ? यदि प्रेक्षक या दर्शक में केवल रस की प्रीतित मानते हैं तो क्या रसानुभूति केवल प्रतीति है । अतएव इन अनेक शंकाओं का समाधान न होने से लोल्लट का मत स्वीकार करना संभव नहीं।

२. 'शंकुक' का अनुमिति वाद—लोल्लट के मत से असन्तुष्ट होकर श्री शंकुक ने 'न्यायशास्त्र' के आधार पर अपना 'अनुमितिवाद' का मत प्रकट किया क्योंकि वे न्यायवादी आचार्य थे। उन्होंने भरतमुनि के निष्पति शब्द का अर्थ अनुमिति माना। उनके अनुसार विभाव अनुमापक हैं और रस अनुमाप्य। इन्हीं को गम्य और गमक भी कहते हैं। नायक में स्थाई भाव तो रहता ही है। विभाव, अनुभाव आदि से, जिनको वह बड़ी कुशलता से अभिनय करके दिखाता है, नट भी उसका अनुमान कर लिया जाता है, यद्यपि उसमें उसका (रस का) अस्तित्व नहीं रहता। बात यह है कि प्रेक्षक उस निपुण अभिनेता (नट) को ही नायक समझ लेता है। इस सुखद भ्रम में पड़कर उसे नायक के भावों का अनुमान हो जाता है। इस अनुमान के द्वारा प्रेक्षक जब इस भाव को समझने लगता है तब उसके (भाव के) सौंदर्य के कारण वह चमत्कृत हो जाता है और उसे एक प्रकार का अलौकिक आनन्द मिलता है। यही आनन्द स्वाद या रस है। अभिप्राय यह है कि अभिनेता के द्वारा अनुकृत नायकादि का स्थाई भाव अनुमान के द्वारा सामाजिकों को जो आनन्द प्रदान करता है वह रस कहलाता है। सामाजिक प्रेक्षक अभिनेता को नायक समझता है और नायक की मनोवृत्तियों का उसमें आरोप कर स्वयं रसास्वाद करता है।

इस मत के विरुद्ध भी कई आक्षेप हैं। डॉ० दास कहते हैं कि इसमें 'सबसे पहले इस तथ्य की अवहेलना की गई है, कि प्रत्यक्ष ज्ञान से जो चमत्कारपूर्ण आनन्द मिल सकता है, वह अनुमान से नहीं।" आशय यह है कि अनुमान से रसानुभूति कैसे हो सकती है। अनुमान वास्तव में बुद्धि

विषय है, अनुभूति का नहीं। रस प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है, अतः वल अनुमान से प्राप्त होना सम्भव नहीं। इसके अलावा अन्य व्यक्ति के वों को उसने किस प्रकार अपना लिया। ऐसे ही अन्य शंकाएं भी हैं। त: इस मत को स्वीकार करना उचित नहीं समझा गया।

उक्त दोनों मतों में रस की सत्ता प्रेक्षक में नहीं मानी जाती, यह पष्ट हो चुका है। दोनों मतों की आलोचना करते हुए भट्टनायक ने अपना हत्वपूर्ण मत स्थापित किया जिसमें उनके मौलिक विचार स्पष्ट हैं।

३. 'भट्ट नायक' का भुक्तिवाद—भट्ट नायक रस को अनुमेय या तीति नहीं मानते, वरन् भोग्य मानते हैं। 'संयोग' का तात्पर्य, भोज्य-जक भाव है और 'निष्पत्ति' का तात्पर्य है भुक्ति। उन्होंने रसानुभूति ी प्रक्रिया की तीन अवस्थाएँ मानी हैं—अभिधा भावकत्व और भोजत्व। भिधा व्यापार के द्वारा सहृदय (प्रेक्षक) शब्दों का अर्थ समझता है ौर समस्त प्रसंगों की विशिष्ट स्थिति का ज्ञान कर लेता है। फिर ावकत्व व्यापार आदि के द्वारा विभावादि का साधारणीकरण हो जाता । ऐसी स्थिति में पात्रों की विशिष्टता समाप्त हो जाती है तथा सामा-जक मनोवृत्ति विभावादिकों के विशिष्ट रूप में प्रस्तुत किये जाने से नर्वैयक्तिक हो जाती है। आलम्बन और उद्दीपन सर्वसाधारण की अनु-ूति को स्पर्श करने वाली विशेषता धारण कर लेते हैं और रसास्वाद में ो व्यक्तिगत भावना का प्रतिबन्ध या विरोध पड़ता था, वह समाप्त हो ाता है। तीसरी अवस्था भोजकत्व है, जब विभावादि साधारणी कृत ो जाते हैं। तब सहृदय या सामाजिक में तमस् या रजस् की शांति हो ाती है और सत्वोद्रेक होता है। सत्वोद्रेक की स्थिति में सामाजिक के ैयक्तिक ईर्ष्या, द्वेष, चिन्ता आदि हो जाते हैं और वह अखण्ड स्वप्रकाशा-नन्द का अनुभव करता है। इसी आनन्द को रस कहा जाता है। इस

आनन्द का भोग करते हुए मनुष्य थोड़ी देर के लिए सांसारिक बंधनों से निर्मुक्त होकर सार्वभौम चैतन्य जगत में प्रवेश पा जाता है। इसी से वह आनन्द 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा जाता है।

इसी प्रकार भट्ट नायक ने प्रेक्षक के हृदय में रस की अवस्थिति मानी है और साधारणीकरण के द्वारा रसानुभूति को स्पष्ट करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। इनका मत 'संख्या-शास्त्र' सम्मत है, क्योंकि वे सांख्य-मतानुयायी थे। साथ ही ध्वनि-विरोधी आचार्य थे। अतः उन्होंने भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों की कल्पना की। इनका मन भी दार्शनिक है। यही कारण है कि रसानुभूति की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्या करने की आवश्यकता शेष रही क्योंकि रसानुभूति यथार्थतः शारीरिक-मानसिक व्यापार है। फिर भी इनके साधारणीकरण से रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया समझने में सुविधा हुई।

इस मत पर आपत्ति यह उठाई गई कि काव्य की तीन शक्तियो को मानने के लिए आधार-रूप प्रमाण का अभाव है जिस बात के लिए युक्तियुक्त नियम प्राप्त होते हैं या हो सकते हैं, उसके लिए प्रमाणहीन सिद्धांत का प्रतिपादन उचित नहीं। ध्वनिवादी आलोचकों ने इसका विरोध किया है। जिसमें अभिनवगुप्ताचार्य प्रमुख हैं। इन्होंने भट्ट नायक के मत का शास्त्र या दृष्टि से विरोध किया और खण्डन किया, किन्तु रसानुभूति के विश्लेषण में साधारणीकरण के मत को परिष्कृत और पूर्ण किया।

४. 'अभिनवगुप्त' का अभिव्यक्तित्व-आचार्य अभिनव गुप्त ने भावकत्व और भोजकत्व को मानने की आवश्यकता नहीं समझी, क्योंकि वे ध्वनिवादी थे। उनके अनुसार इन दोनों क्रियाओं का काम व्यंजना और ध्वनि से चल जाता है। भावकत्व तो भावों का अपना गुण है ही। इसी लिए तो भरत मुनि ने कहा—'काव्यार्थन् भावयन्तीति भावः।' इसी तरह भोजकत्व भी रस का स्वभाव ही है—'आस्वाद्यत्वाद्रस.।" रस में भोग या आस्वाद का भाव निहित है। 'भरत मुनि' के उक्त सूत्र का अर्थ है, जो

काव्यार्थों को भावना का विषय बनावें वे भाव होते हैं। अभिनव गुप्त ने काव्यार्थ को रस का भावक कहा क्योंकि उसी से रस व्यंजित होता है।

इस तरह वे रस को व्यंग्य मानते हैं और वह (रस) व्यंजना के द्वारा सहृदय को प्रभावित करता है। रसास्वाद के अधिकारी सहृदय हैं। स्थायी भाव व्यंग्य होते हैं तथा विभावादि व्यंजक रूप। अतः व्यंजक, व्यंग्य सम्बन्ध ही 'संयोग' का अर्थ हुआ। यों भी कह सकते हैं कि संयोग का अर्थ व्यंजित या ध्वनित होना है और 'निष्पत्ति का अर्थ है आनन्द रूप में प्रकाशित होना।

इसके बाद रस की अभिव्यक्ति को इस प्रकार बताया है कि प्रत्येक मनुष्य में परिस्थिति के अनुकूल भावों की अनुभूति होती रहती है। वे भाव उसके हृदय में वासना रूप में या संस्कार रूप में स्थिर हो जाते हैं। इस प्रकार स्थायी भाव पहले से ही उसके हृदय में वासना-रूप में विद्यमान रहते हैं। उनका अनुभव अज्ञान के आवरण के कारण नहीं होता। किन्तु जब निपुण अभिनय के द्वारा विभावानुभाव के प्रदर्शन से अज्ञान का आवरण हट जाता है, तब वे अभिव्यक्त हो जाते हैं। इस प्रकार साधारणीकरण के साथ सहृदय या प्रेक्षक के सुषुप्त स्थायी भाव निर्वैयक्तिक रूप से प्रकट होकर आनन्द का आस्वाद करते हैं। आत्मानन्द के प्रकाश में स्थायी भावों का अनुभव ही रस कहा जाता है। इस स्थिति में प्रेक्षक इतना हो जाता है कि उसकी चित्तवृत्ति आनन्दमय हो जाती है। यह आनन्द ही रसास्वादन है और रस की स्थिति इसी में है। यह रसानुभूति अलौकिक होती है। यह मत 'शैवाद्वैतवाद' या आनन्दवाद के आधार पर है, जिसमें चेतना पूर्ण विश्रान्ति की स्थिति में होती है।

निष्कर्ष यह निकला कि स्थायीभाव और चैतन्य के योग से ही रस का आस्वादन होता है। व्यक्ति उस समय अपने आपको भूल जाता है, अपने को मनुष्य जाति से अलग व्यक्ति-विशेष नहीं समझता वरन् मनुष्य मात्र होकर उसका अनुभव करता है।

आचार्य अभिनव गुप्त का यह मत दार्शनिक होते हुए भी मनो-वैज्ञानिक और यथार्थवादी आधार ग्रहण किए हुए है। अधिकांश विद्वान उसी मत को स्वीकार करते हैं।

आचार्य सम्मट ने रसानुभूति के सम्बन्ध में भरत-सूत्र की व्याख्या के उक्त चारों मत अपने 'काव्य-प्रकाश' में प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने स्वयं इस पर कोई महत्वपूर्ण मत नहीं दिया है।

इन मतों के उपरान्त रसानुभूति की जो व्याख्यायें हुईं, वे नाटक को ही दृष्टि में न रखकर काव्य को ध्यान में रखकर की गयी। इन व्याख्याओं में आचार्य विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ और आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के विचार महत्वपूर्ण हैं।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार विभाव और संचारी भाव के द्वारा सहृदयों के स्थायी भाव की अभिव्यक्ति में रस की स्थिति होती है। इनका मत भट्टनायक और अभिनव गुप्त के मत का समन्वय जान पड़ता है इनके मत की विशेष बात यह है कि ये सहृदय प्रेक्षक में ही रस की स्थिति मानते हैं, नायकादि में नहीं। रसानुभूति की स्थिति में आश्रय के साथ सहृदय के तादात्म्य की दशा मानते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ वेदान्त के आधार पर रसानुभूति की दार्शनिक व्याख्या करते हैं और अभिनव गुप्त के मत को दूसरे ढंग से प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार, वासना रूप स्थायीभाव स्वत: प्रकाशमान आत्मानन्द के साथ अनुभव किए जाने पर रस कहलाते हैं। अज्ञानादि के आवरण से चेतना विभावादि की अनुपस्थिति में आच्छादित रहती है और विभावादि के कारण जब वह अज्ञानादि का आवरण हट जाता है तभी अखण्ड एवं नित्य शुद्ध आत्मचैतन्य प्रकट होता है। अत: अभिव्यक्ति का तात्पर्य अज्ञा-नावरण का भग्न होना है। ऐसी स्थिति में हम स्थायी भावों का अनुभव करते हैं यही रसानुभूति की दशा होती है। ये प्रतीति को मानते हैं और कहते हैं कि दिखाई देने वाले विभावादि नहीं वरन् कल्पना में आये विभावादि आत्मा-चैतन्य के द्वारा प्रकाश पाते हैं। अतएव विभावादि का

अनुभव व आत्मा-चैतन्य के साथ होने पर रस की दशा होती है।

उपर्युक्त मतों को देखते हुए अभिनवगुप्त का मत ही अधिक संगत और मान्य होता है।

इसके पश्चात 'आचार्य पं. रामचन्द्र शुक्ल ने रसानुभूति की स्थिति को अधिक सामाजिक धरातल पर देखने का प्रयत्न किया है आचार्य विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ केवल प्रेक्षक या पाठक में ही रसानुभूति मानते हैं, विभावादि के प्रत्यक्ष रूप में रस की स्थिति स्वीकार नहीं करते। किन्तु शुक्ल जी तीनों स्थितियों में रस की अनुभूति स्वीकार करते हैं और लिखते हैं–(१) प्रत्यक्ष रूप विधान में भी रस की अनुभूति किन्हीं अवस्थाओं में हो सकती है तथा (२) स्मृति और (३) काल्पनिक रूप-विधान में भी रसात्मक बोध हो सकता है। प्रश्न यही है कि उनका स्वरूप इस प्रकार का हो कि वैयक्तिक परिधि का तिरोभाव हो सके और सामाजिक स्तर पर वे देखे जा सकें। यदि एक साथ बहुतों को एक ही भाव में मग्न करने की क्षमता उस रूप-विधान में है, तो निश्चय ही उसमें रसानुभूति हो सकती है। डा० भगीरथ मिश्र ने शुक्लजी के पहले मत को सम्भावना पर आधारित आदर्शवादी दृष्टि कोण बताते हुये कहा है कि प्रत्यक्ष रूप-विधान में रसानुभूति सम्भव नहीं है।

आगे एक बात शुक्ल जी की है कि वे साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का ही मानते हैं, परन्तु साधारणीकरण समस्त व्यापार का होता है। यही अभिनवगुप्त ने भी माना है। इसका कारण यह है कि विभवादि भी निर्वैयक्तिक हो जाते हैं, जिनमें आलम्बन और आश्रय दोनों ही सम्मिलित हैं, उद्दीपन भी इसी में आ जाता है। संचारी भाव तथा अनुभाव भी अपने वैयक्तिक सम्बन्ध को त्यागकर साधारणीकृत स्थायी भाव प्रतीति के योग्य एवं पुष्ट करते हैं। इसलिए वासनागत हमारा स्थायी भाव उद्बुद्ध होकर साधारणीकृत स्थायी भाव के साथ तादात्म्य कर पाता है। अतः यह आवश्यक है कि विषय को इस तरह प्रस्तुत किया जाय कि उसका साधारणीकरण सम्भव हो और प्रेक्षक या श्रोता के वासनागत स्थायी भाव जागृत हो सकें, तभी रसानुभूति की पूर्ण स्थिति संभव है।

संक्षेप में यहाँ साधारणीकरण का विवेचन हो गया है। सारांश रूप में, साधारणीकरण और कुछ नहीं चित्तवृत्तियों की एकतानता, अखण्डता, अभेदता की अवस्था है। रसानुभूति इसी पर आधारित है।

प्रश्न १६—अलंकार—सम्प्रदाय का संक्षिप्त परिचय देकर अलंकारों का महत्त्व बताते हुए संक्षेप में उनके वर्गीकरण का स्वयं रूप भी स्पष्ट कीजिए।

संस्कृत साहित्य के समीक्षा-क्षेत्र के अन्तर्गत कई काव्य-सम्प्रदाय हैं, जिनमें अलंकार-सम्प्रदाय भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है इस सम्प्रदाय का परिचय देने के पूर्व यह जान लेना भी उपयुक्त होगा कि विभिन्न काव्य-सम्प्रदायों का विकास किसलिए और किस प्रकार हुआ? इसका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

वास्तव में काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने की आवश्यकता ने ही भारतीय समीक्षा-क्षेत्र मे काव्य के विविध सम्प्रदायों को जन्म दिया। काव्य की सबसे प्राचीन परिभाषा अग्निपुराण मे इस प्रकार दी गयी :-

'संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्य स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जित।'

अर्थात् संक्षेप में इष्ट अर्थ को प्रकट करने वाली पदावली से युक्त, ऐसा वाक्य काव्य से, जिसमें अलंकार प्रकट हों और जो दोषरहित और गुणयुक्त हों।

इसके बाद आचार्य भामह ने काव्य की परिभाषा दी—

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।' (काव्यालंकार)

इन दोनों परिभाषाओं में काव्य के वाह्य स्वरूप का ही निरूपण हुआ, काव्य का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट न हो सका। अतएव बाद के आचार्यों ने इन लक्षणों का खण्डन किया और काव्य की अन्तर्भूत विशेषता या आत्मा को खोजने का प्रयास किया।

आचार्य दण्डी ने 'अग्निपुराण' की परिभाषा को लक्ष्य करके कहा—
'शरीरं तावदिष्टार्थं व्यवच्छिन्नापदावली।' अर्थात् 'इष्ट अर्थ को

प्रकट करने वाली पदावली तो शरीर-मात्र है। भामह की परिभाषा को लक्ष्य करके इसी प्रकार आचार्य आनन्दवर्द्धन ने अपने 'ध्वन्यालोक' में लिखा—

'शब्दार्थ शरीरं तावत्काव्यम्' अर्थात् 'काव्य तो शब्दार्थ के शरीर वाला है।' इस प्रकार काव्य के शरीर रूप में ही शब्द-अर्थ को स्वीकार किया गया और यह समस्या रखी गयी कि काव्य की आत्मा कुछ और ही है।

इन धारणाओं के कारण संस्कृत के विभिन्न आचार्यों ने काव्य की आत्मा खोजने का प्रयास किया, जिसके फलस्वरूप काव्य सम्प्रदायों का विकास हुआ। ये काव्य सम्प्रदाय सात हैं—

१. अलंकार, २. रीति, ३. ध्वनि, ४. वक्रोक्ति, ५. औचित्य, ६. अनुमिति और ७. रस। इन सम्प्रदायों का नाम काव्य के उस तत्त्व पर आधारित है, जिसे इनके मानने वाले काव्य को आत्मा के रूप में स्वीकार करते हैं।

द्रष्टव्य:—[इन सम्प्रदायों में औचित्य-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य क्षेमेन्द्र एवं अनुमति सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य महिम भट्ट में, जो क्रमशः औचित्य तथा अनुमिति को काव्यात्मा के रूप में स्वीकार करते हैं। ये दोनों सम्प्रदाय बहुत महत्वपूर्ण नहीं हैं और इनका विकास भी बहुत कम ही हो सका है। अतः इनके विस्तृत परिचय की आवश्यकता नहीं। रस-सम्प्रदाय के बारे में रस-संबंधी प्रश्न में पर्याप्त लिखा गया है। इसके प्रवर्तक आचार्य विश्वनाथ हैं, जो काव्य की आत्मा रस मानते हैं—"वाक्यं रसात्मकम्।" काव्यम।" यह बहुमत स्वीकृत सम्प्रदाय का परिचय प्रस्तुत है शेष चार सम्प्रदायों का परिचय आगामी प्रश्नों में देखिए।]

(१) अलंकार-सम्प्रदाय—आचार्य भामह ने अपने काव्यालंकार में अलंकारों को ही काव्य की समग्र विशेषता के रूप में ग्रहण किया है। इस प्रकार भामह तथा दण्डी ने अलंकारों को ही काव्य की आत्मा के

रूप में प्रतिष्ठित किया है। इन आचार्यों ने अलंकारों का बहुत व्यापक अर्थ ग्रहण किया है और इसीलिए रस को भी रसवत् अलंकार मानकर उसे प्रधानता दी है और अलंकार मानकर उसे प्रधानता दी है और अलंकारों की सीमा में ही उसकी गणना की है। अलंकारिका आचार्यों के मत से काव्य का समस्त सौंदर्य, अलंकार है। दन्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में लिखा है—'काव्यशोभाकारान धर्मान अलंकारान प्रचक्षते।'

अर्थात् 'काव्य की शोभा प्रदान करने वाले धर्म अलंकार हैं।

आचार्य वामन भी, जो इसी सम्प्रदाय के पोषक हैं, 'अपने काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति' है लिखते हैं—

'काव्यम् ग्राह्यमलंकारात्।''

'सौंदर्यमलंकार:।'

'सदोषगुणालंकारहीन दानाभ्याम्।''

इन सूत्र-वृत्तियों में वामन ने अलंकार की वास्तविक स्थिति का विवेचन किया है। इनमें अलंकार के दो स्वरूप स्पष्ट हैं—एक तो काव्य के समग्र 'सौंदर्य के रूप में' और दूसरे इसी सौंदर्य के एक उपकरण के रूप में'। वामन ने दण्डी की तरह काव्य के शोभाकारक धर्म को अलंकार न मानकर गुण माना है और स्पष्ट किया है कि अलंकार गुणों के उत्कर्ष के कारण-स्वरूप हैं। इसीलिए आगे चलकर आचार्यों में मतभेद अलंकारों के इन्हीं दो रूपों के कारण ही बना रहा। प्रथम स्वरूप को मानने वाले आचार्यों ने अलंकारों को काव्य के लिये अनिवार्य माना और द्वितीय स्वरूप को मानने वाले ने अलंकार को काव्य में गौण स्थान प्रदान किया। प्रथम मत को मानने वालों में जयदेव और द्वितीय मत के मानने वालों में आचार्य मम्मट प्रमुख हैं।

इस परम्परा के पोषक हिन्दी में भी हैं जिनमें आचार्य कवि 'केशवदास' और डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' का नाम उल्लेखनीय है।

साहित्यालोचन के भारतीय मानदण्डों में अलंकार का महत्व इसी सम्प्रदाय की देन है। अलंकारों की विस्तृत चर्चा से काव्य सौंदर्य को

समझने में ही नहीं, बरन् काव्य-रचना और काव्य की अभिव्यक्ति पक्ष को काफी विकास प्राप्त करने में सहायता मिली है।

सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि अलंकारों का काव्य में महत्वपूर्ण स्थान है। काव्य के सभी विभागों—गद्य पद्य—में अलंकारों का पर्याप्त प्रयोग दृष्टिगत होता है। अलंकारों का प्रयोग अनिवार्य तो नहीं किन्तु स्वाभाविक अवश्य है। इनका उपयोग किसी तथ्य अनुभूति घटना या चरित्र की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के निमित होता हैं। वस्तुतः अलंकार वाणी के वैभव हैं विभूषण हैं। सामान्य बात भी इनके माध्यम से अलंकृत होकर सुष्ठुता एवं मनोहरता प्राप्त कर लेती है। इसीलिए इन्हें-चमत्कार-पूर्ण उक्ति कहा गया है। कथन की ललित भंगिमा, उक्ति की विचित्रता और बाँकपन ही अलंकार हैं :—

उक्ति-वैचित्र्य के अनेक रूप सम्भव है, वे सभी ही अलंकार हैं। साधारणतया उक्ति का वैचित्र्य शब्दों के विशिष्ट प्रयोग एवं अर्थ की भंगिमा पर आधारित होता है। इसी आधार को ग्रहण करके अलंकारों के दो वर्ग बनाये गये हैं :—

(१) शब्दालंकार और (२) अर्थालंकार। किन्तु ये सर्वंव पृथक-पृथक ही आवें यह आवश्यक नहीं। वस्तु-स्थिति यह है कि शब्दालंकारों में प्रायः अर्थालंकारों की आभा विद्यमान होती है और अनेक अर्थालंकारों में शब्द-चमत्कार की विद्यमानता होती है।

१. शब्दालंकार—वे हैं, जिनमें शब्दों के प्रयोग से कोई चमत्कार या वैचित्र्य उपस्थित होता है और उन शब्दों को हटाकर उनके पर्याय समानार्थी शब्दों के रखने पर वह चमत्कार नहीं रहता। इनकी संख्या प्रमुखतः ५ मानी गयी हैं—

१. अनुप्रास, २. यमक, ३. वक्रोक्ति, ४. श्लेष, ५. चित्र।

२. अर्थालंकार—के अन्तर्गत किसी शब्द-विशेष के कारण चमत्कार नहीं होता वरन् यदि पर्याय शब्द भी रख दें तो अलंकार समाप्त न होगा क्योंकि यह चमत्कार शब्दगत न होकर अर्थगत होता है। डॉ०

भगीरथ मिश्र के शब्दों में, 'वास्तव में ये अलंकार भाव या अर्थ-प्रकाशन की भिन्न-भिन्न शैलियाँ हैं।' ये अलंकार अनेक हैं, इनकी निश्चित संख्या देना कठिन है अनेक विद्वानों ने इनकी भिन्न-भिन्न संख्या दी है। ये अलंकार किसी विशेष प्रकार के चमत्कार पर आधारित होते हैं, इन्हीं आधारों पर इनके अलग-अलग वर्ग बनाये जा सकते हैं। ये आधार और वर्ग तथा उनके अन्तर्गत आने वाले प्रमुख अलंकार अधोलिखित हैं :—

१. साम्यमूलक अलंकार—साम्य के आधार पर—रूप-गुण के साम्य पर आधारित होते हैं; जैसे, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, भ्रम, सन्देह आदि।

२. वैषम्य या विरोधमूलक अलंकार—विषमता या विरोध के चमत्कारपूर्ण प्रकाशन के आधार पर होते हैं; जैसे असंगति, विषय, विरोधाभास आदि।

३. क्रम या शृंखलामूलक अलंकार—क्रम या शृंखला पर आधारित है; जैसे, कारणमाला, एकावली, सार आदि।

४. न्यायमूलक अलंकार—न्याय के आधार पर है, जैसे यथासंख्य, काव्यलिंग, तद्गुण, लोकोक्ति आदि।

५. कारण-कार्य संबंध अलंकार—वे हैं जिन्हें कारण-कार्य संबंध पर आधारित मानते हैं—जैसे विभावना, हेतूत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि।

६. निषेधमूलक अलंकारों—का आधार निषेध है—जैसे अपह्नुति, विनोद, व्यतिरेक आदि।

७. गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक अलंकार—गूढ़ार्थ की प्रतीति कराने वाले अलंकार हैं—जैसे, पर्यायोक्ति, समासोक्ति, मुद्रा, व्याजोक्ति (व्याजनिन्दा और व्याज स्तुति), सूक्ष्म आदि।

नोट :—इन अलंकारों का सोदाहरण परिचय पाठक चाहें, तो अन्यत्र देखने का कष्ट करें।

प्रश्न २०—रीति सम्प्रदाय का संक्षिप्त आलोचनात्मक परिचय दीजिये।

काव्य में रीति-सम्प्रदाय का भी महत्वपूर्ण स्थान है। रीति

का शब्दार्थ है—'वचन-पद्धति' अर्थात् जिस मार्ग, पद्धति, प्रणाली या शैली से जाना जाय, वही रीति है। हम यह देखते हैं कि रीतिविषयक धारणा और महत्त्व के बारे में आचार्यों में मतैक्य नहीं है। रीति सम्प्र, दाय के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों के अनुयायियों ने भी रीति का उल्लेख अपने ग्रंथों में किया है। इससे यह सिद्ध है कि सभी सम्प्रदाय इसे किसी न किसी रूप में काव्य में स्थान अवश्य देते हैं। रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने 'उपकर्त्री रसादीनां' की शब्दावली मे इसे प्रकट किया है महाकवि बाण ने अपने 'हर्ष-चरित' में उत्तरी, पश्चिमी, दक्षिणी और पूर्वी प्रदेश की साहित्यिक शैली की चार विशेषताओं को संकेतित किया है। इन्हीं शैलियों को रीति या मार्ग-रूप मे आगे के आचार्य भामह और दण्डी आदि ने ग्रहण किया। आचार्य भामह और दण्डी, ये दोनों ही अलंकार-वादी थे, किन्तु इनकी अलंकार-विषयक धारणा व्यापक और उदार थी। अतः भामह ने वैदर्भी और गौड़ीय रीति का उल्लेख किया और दण्डी ने भी इन्ही दो का उल्लेख करके इनका सम्बन्ध विशेषकर गुण से स्थापित किया। दण्डी के अनुसार दसों गुणों के समावेश-वाला मार्ग वैदर्भ है और जिसमें इन गुणों का अभाव हो वह गौड़ीय मार्ग है। इसका उल्लेख हमें उनके काव्यादर्श में प्राप्त होता है।

रीति को सर्वाधिक महत्व देने वाले आचार्य हैं—वामन। ये ही रीति-तत्व के वास्तविक मर्मज्ञ कहे जाते हैं। इन्होंने 'काव्य की आत्मा' के रूप में रीति को स्वीकार किया—'रीतिरात्मा काव्यस्य।' वस्तुतः यहीं से काव्य की आत्मा की खोज की परम्परा प्रारम्भ हुई है।

वामन की रीतिविषयक धारणा के आधार गुण ही हैं, जिसे विशिष्ट पद रचना रीतिः 'विशेषो गुणात्मा' कहकर व्यक्त किया है। इन्होंने रीति को काव्यात्मा के रूप में तो प्रतिष्ठित किया ही रीति-संख्या भी बढ़ाई और उसके स्वरूप को भलीभाँति स्पष्ट भी किया। दूसरे शब्दों मे वामन के अनुसार रीति काव्य की आत्मा है; विशिष्ट पद रचना रीति है और यह विशिष्ट गुण पर आधारित है। वस्तु गुणों के आधार पर पद-रचना ही रीति है। रीति के ३ भेद हैं :—

(१) वैदर्भी, (२) गौडीय और (३) पाँचाली।

वैदर्भी—विदर्भ प्रदेश की प्रचलित रीति है, जो समस्त गुणों से यु
होती है। यह दोषरहित, मधुर शब्दार्थ चमत्कार से भिन्न विशेषता लि
हुए है।

गौडीय—ओज-कांति से पूर्ण रीति होती है। यह मधुर न होक
कटु, सुकुमार न होकर कर्कश, समास-बहुला और उग्र पदावली से यु
होती है। (गौड प्रदेश के आधार पर इसका गौडीय है।)

पांचाली—(पाँचाल प्रदेश वाली) मधुर और सुकुमार रीति है
इसमें मधुरता और सुकुमारता के गुण तो हैं, किन्तु कांति का अभाव है
भाव की शिथिलता है और गठन का भी अभाव है।

वामन ने उक्त विवरण के सन्दर्भ में यह भी बताया है कि वैदर्
सभी गुणों से युक्त होने के कारण ग्राह्य है और इस अभाव में अ
रीतियाँ अग्राह्य हैं। वैदर्भी, जो समास-रहित है, वही शुद्ध है। इसक
शैली तुच्छ वस्तु को भी चमत्कारपूर्ण बनाने वाली, शब्द की शोभा प्रदा
करने वाली, नीरस को सरस करने वाली और सहृदयों के लिए सुधा
वृष्टि करने वाली है।

इसके पश्चात् रीति सम्प्रदाय के दूसरे आचार्य रुद्रट हैं। उनको
रीति की कल्पना काव्यात्मा मानकर नहीं, वरन् अन्य आधार पर है
वे उसके ४ भेद, 'समास के आधार' पर करते हैं। उसके अनुसार, (१)
वैदर्भी—समास-रहित, (२) पाँचाली—लघु या अल्प समास-युक्त, (३
लाटीय या लाटी—मध्यम समास—युक्त और (४) गौडीय या गौडी-
दीर्घ समास वाली—ये चार रीतियाँ हैं। वैदर्भी और पाँचाली दोनों
माधुर्य तथा सुकुमार गुणों से युक्त होने के कारण शृंगार करुण आदि
रसों की व्यंजना करने वाली हैं और लाटी तथा गौडी, दोनों उग्र ए
उदात्त गुण के कारण रौद्र, भयानक, वीर आदि रसों की व्यंजक हैं
डॉ० मिश्र कहते हैं—'यहाँ पर रीति में वृत्ति की भावना का समावेश
होने के कारण रुद्रट ने यह विवेचन किया है।'

रीति के विषय में राजशेखर और भोज का मत प्रायः एक-सा है। राजशेखर का मत है। पांचाली—अल्प समासवाली, स्थान अनुप्रास और योग-वृत्ति से युक्त है। पांचाली—अल्प समासवाली, अनुप्रास और उपचार-वृत्ति से युक्त तथा गौडी—दीर्घ समासवाली, अनुप्रास-सम्पन्न एवं योगवृत्ति-परम्परा-युक्त है। इन्होंने और भोज ने 'लाटी' के विषय में कोई उल्लेख नहीं किया है।

आचार्य कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्ति जीवितम्' (वक्रोक्तिवादी होते हुए भी रीति को काव्य में महत्वपूर्ण मानते हुए) रीति का जो विवेचन किया है, उससे पूर्ववर्ती धारणाओं में महत्वपूर्ण परिवर्तन परिलक्षित होता है। इन्होंने काव्य शैली या रीति को परम्परानुसार प्रदेश विशेष की सीमा में देखना समझना अनुचित ठहराया क्योंकि इस आधार पर विभिन्नता और विविधता के कारण अनेक रीतियाँ हो सकती हैं। साथ ही काव्यगत विशेषताओं का आग्रह न होकर रूढ़िपालन की परम्परा के प्रति आग्रह को भी स्वीकार करना अनुचित ही होगा। यह भी संभव है कि प्रदेश विशेष की शैली या रीति की विशेषताओं में दूसरी रीति या शैली की विशेषताएँ भी मिल जायें। अतः इन्होंने रीतियों के विभाजन की दृष्टि से उक्त नियम या परम्परा को उचित न मानकर त्रिमार्ग (तीन मार्गों वाला) सिद्धांत स्थापित किया। (इसका उल्लेख हम आगे करेंगे।)

कुन्तक, वामन की इस धारणा को भी स्वीकार करना अनुचित समझते हैं कि वैदर्भी और गौडी को एक दूसरे से घटकर या बढ़कर समझा जाय। उनका मत है कि यदि काव्य-रीति की कसौटी सहृदयों के हृदय को आनन्द प्रदान करना है, तो इस प्रकार की रीति अनेक कैसे हो सकती हैं? वह तो एक ही होगी। प्रदेश-भेद से रीति-भेद करना और उनकी घट-बढ़ समझना या उत्तम, मध्यम, अधम कहना प्रदेश-विशेष के सहृदयों के हृदय को आनन्द न देकर कष्ट पहुंचाना होगा।

ऊपर कुन्तक के त्रिमार्ग सिद्धान्त की बात कही गयी है। उसका अभिप्राय यह है कि इन्होंने कवियों के स्वभाव का ध्यान रखकर तीन

मार्ग स्वीकार करके रीतियों का वर्गीकरण किया है—

(१) सुकुमार, (२) विचित्र, (३) मध्यम। आजकल के विद्वा इन्हें क्रमशः सरस, चमत्कार और समन्वित काव्य—शैली के समा मानते हैं।

सुकुमार मार्ग—के अन्तर्गत सहज स्वाभाविक गुण और विशेषता का समावेश होता है, जो प्रतिभा से उत्पन्न होते हैं। उसके भीतर विचि त्रता या अलंकार अनायास ही आ जाते हैं, उन्हें लाने का कोई विशे उपक्रम नहीं किया जाता है। सरसता, भावपूर्ण और स्वाभाविक वर्ण इस मार्ग की विशिष्टाएँ हैं। इसमें शब्दार्थ-योजना भावानुकूल और परि स्थिति के अनुरूप होती है। यह सत्कवियों का मार्ग है।

विचित्र मार्ग—आलंकारिक या कलायुक्त मार्ग है, जिसमें वर्णन अलं कारों से लदा हुआ और बोझिल होता है। इसमें कृत्रिमता और प्रयत्न साध्यता होती है। वर्ण शब्द पदावली अर्थ उक्ति आदि सभी की विचित्रता इसमें होती है। वस्तुतः यह चमत्कारिक मार्ग है।

मध्यम मार्ग—उक्त दोनों मार्गों का समन्वित और संतुलित मार्ग है। इसमें भाव और कला, सुकुमार और विचित्रता सहजता और कृत्रि मता सबमें समन्वय विद्यमान रहता है।

कुन्तक ने सुकुमार और विचित्रता, दोनों मार्गों के भीतर चार गुण माने हैं—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और अभिजात्य। ये गुण सुकुमार में सहज रूप में और विचित्र में आहार्य रूप में रहते हैं। यहाँ पर डा० भगीरथ मिश्र का विचार है कि—'जब दोनों ही में गुण वही है, तब निश्चय है कि कुन्तक का मत गुणों पर आश्रित रीति का विवेचन नहीं उपस्थित करता। उनका रीति-भेद सहजता और अलंकृति पर आधारित है। कुन्तक ने रीति को अधिक स्वाभाविक, सहजग्राह्य पद्धति पर रखा है।"

अब तक जिन आचार्यों का रीति-सम्बन्धी विवेचन दिया गया, वह कई-आधारों और दृष्टिकोणों के अनुसार है, जो इस प्रकार है--समास

अलंकार और वैचित्र्य आदि। आचार्य आनन्दवर्द्धन और मम्मट ने
ों को रस का उपकारण धर्म बताया और रीति का संबंध औचित्य से
ा। रीति के नियामक रूप में वक्तृ-औचित्य वाच्य-औचित्य, विषय-
चित्य और रस औचित्य की चर्चा की। इन तत्वों के आधार पर रीति
ण्य या नियमन होता है, अतः नियामक औचित्य की बात कही गई
कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि या वक्ता के स्वभाव के अनुकूल
शैली का रूप बहुत सीमा तक निर्मित होता है। वाच्य विषय रस आदि
ऐसे ही प्रमुख आधार हैं जिन पर शैली का निर्वाचन निर्भर होता है।

मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' रीतियों का विवेचन वर्ण-संगठन पर
धारित है। शब्द या वर्ण संगठन से संबंध रखने वाली तीन वृत्तियाँ हैं-
) उपनागरिका, (२) कोमला और (३) परुषा, उपनागरिका वृत्ति
-मधुर, कोमला वृत्ति में—कोमल और परुषा वृत्ति में—कठोर तथा
क्त वर्णों की आवृत्ति होती है।

आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्य-दर्पण में चार-रीतियों का
लेख- गुण, वर्ण-संघटन समास और वृत्ति के आधार पर किया है।
के मतानुसार (१) वैदर्भी—माधुर्य गुण की व्यंजना करने वाले वर्णों से
वृत्ति रहित या अल्प, वृत्तियुक्त ललित रचना है। (२) गौणी—
ज गुण व्यंजक वर्णों से युक्त समाज-बहुला उद्भट रचना है। (४) लाटी
र्भी तथा पाँचाली के बीच की रचना है।

उपर्युक्त समस्त विवेचनों से रीति-विषयक धारणा बहुत स्पष्ट नहीं
पाती। वस्तुतः इस सिद्धान्त का विकास पूर्णतया न हो सका और रीति
ान्त प्रौढ़ता से निरूपित न हो सका, क्योंकि इसके साथ ही अन्य
ांत आ गये और इनका प्रबल विकास इसके मार्ग में बाधक हो गया।
र भी सभी आचार्यों की धारणाओं का सार लेकर, डॉ० भगीरथ मिश्र
अनुसार, रीतियों की विशेषताओं को इस प्रकार कर सकते हैं—

वैदर्भी—लगभग समस्त गुणों से युक्त समास रहित या अल्प समास

वाली, मधुर सुकुमार शब्दावली का प्रयोग करने वाली, भावों और रसों की व्यंजना करने वाली, सरस शैली, वैदर्भी रीति कहलाती है।

पांचाली—स्वल्प समासवाली, सुकुमार शब्दावली-प्रधान, शिथिल पद संगठन वाली शैली 'पंचाली' है।

गौडी—दीर्घ समासवाली, ओज; और कांतिगुणों से युक्त, अक्षराडम्बरयुक्त परुष एवं संयुक्ताक्षरों—वाली शैली, गौडी रीति है।

लाटी—कोमल पदों वाली, उचित समास से युक्त, विशेषण-प्रधान वर्णनवाली शैली लाटी रीति है।

डा० भगीरथ मिश्र ने, आधुनिक विवेचनों के सन्दर्भ में, रीति की विशेषता इस प्रकार प्रकट की है—'शैली या रीति—काव्य-रचना-संबंधी वह विशेषता है, जो कवि की प्रकृति और व्यक्तित्व, वर्ण-योजना, शब्द-संगठन, अलंकार प्रयोग, भाव सम्पत्ति एवं उक्ति-वैचित्र्य के परिणाम स्वरूप प्रकाशित होती है।'

प्रश्न २१—वक्रोक्ति-संप्रदाय का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत कीजिए।

संस्कृत के काव्य-सम्प्रदायों में वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का विशिष्ट स्थान है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं—आचार्य कुन्तक जिन्होंने अपने ग्रंथ 'वक्रोक्ति जीवतम्, में वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है 'वक्रोक्तिः काव्य जीवतम्।' (कहीं-कहीं कुन्तक स्थान पर कुन्तल शब्द है, यह स्मरण रखना चाहिये।

आचार्य कुन्तक के द्वारा वक्रोक्ति की काव्य को आत्मा-के रूप में स्वीकार करने (प्रतिष्ठित करने के मूल में कुछ विशेष बातें हैं, जिन्हें जान लेना आवश्यक है। वास्तव में काव्य के अन्तर्गत जब रीति और ध्वनि-सिद्धांत की प्रष्ठिता हुई, तो अलंकारों का स्थान गौण हो गया। जिस धारणा को लेकर अलंकार काव्य को काव्य में प्रधान स्थान दिया गया था और उसे शोभाकर धर्म के रूप में ग्रहण किया था वह धारणा ही परिवर्तित हो गयी। रीति-सिद्धांत के प्रमुख आचार्य वामन ने गुण को काव्य-शोभा के

[ज-स्वरूप] धर्म के रूप में स्वीकार किया । अब, अलंकार आभूषण के [रूप] में ग्रहण होने लगा, फलतः महत्वहीन हो गया । डा० भगीरथ मिश्र [लिख]ते हैं—'वास्तव में अलंकार का भाव काव्य के अन्तर्गत विशेषता को [समे]ट लेने का था । (देखिए दण्डी, भामह के विचार) काव्य की आत्मा [मान]ने के प्रसंग में अलंकार को अन्तर्निहित उक्ति-वक्रता के रूप में और ध्वनि [सम्प्र]दायों में नहीं देखा गया । ध्वनि ने जिस विशेषता को लेकर अपना [सिद्धा]ंत खड़ा किया था, वह विशेषता अलंकार के भीतर किसी-न-किसी [रूप] में थी ।' अलंकार-सम्प्रदाय के प्रवर्तक भामह ने इसी प्रकार का भाव [अप]ने निम्नांकित श्लोकों में व्यक्त किया है :—

'सैसा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया बिना ।'

इस प्रकार वक्रोक्ति अलंकार की आत्मा के रूप में भामह के द्वारा [ग्रह]ण की गयी थी । दण्डी ने भी वक्रोक्ति के महत्व प्रकट किया है । [आ]नन्दवर्द्धन ने वक्रोक्ति की इस धारणा को अतिशयोक्ति के रूप में व्य[क्त] किया है । वे अतिशयोक्ति को ही काव्य-सौंदर्य का कारण मानते हैं । [इस] प्रकार से उनका ध्वनि-सिद्धांत इसी अतिशय उक्ति के सिद्धान्त पर [टि]का है उनकी यह अतिशयोक्ति वास्तव में दण्डी और भामह की वक्रोक्ति [से] भिन्न नहीं मानी जा सकती । 'इस प्रकार अतिशयोक्ति वक्रोक्ति को [ध्व]नि सिद्धांत में समेट लेने पर भी विशेष महत्ता ध्वनि को ही आनन्द[वर्द्ध]न ने प्रतिष्ठापित की । अतः वक्रोक्ति के रूप में काव्य की आत्मा को [मह]त्वपूर्ण स्थान न मिल सका ।' इससे ज्ञात होता है कि वक्रोक्ति का [मह]त्व अन्य सम्प्रदायों ने भी किसी-किसी रूप में स्वीकार किया था, [वि]शेषकर अलंकार और ध्वनि सम्प्रदाय में तो इसकी स्पष्ट चर्चा रही । [आ]गे चलकर वक्रोक्ति पर आचार्य कुन्तक का ध्यान गया और उन्होंने उसे [काव्य की आ]त्मा के रूप में प्रतिष्ठित एवं विवेचित किया ।

अन्य काव्य-सम्प्रदायों की भाँति ही वक्रोक्ति की धारणाएँ भी

विभिन्न रूपों में दृष्टिगत होता है। आचार्य भामह वक्रोक्ति के अन्तर्गत काव्य के समस्त सौंदर्य और शोभा को समाविष्ट मानते हैं। आचार्य दण्डी वक्रोक्ति को स्वाभावोक्ति से पृथक् मानते हैं। उन्होंने अपने ग्रंथ काव्यादर्श में स्पष्टतः भिन्न कहा है। साथ ही वे जिस स्थान पर यह बात कहते है, उसी श्लोक से यह बात भी प्रकट होती है कि वक्रोक्ति के भीतर ही रस भी सम्मिलित है। बाद में वक्रोक्ति का और अधिक विश्लेषण करके रस को भी पृथक कर दिया गया। इस प्रकार वक्रोक्ति को एक सीमित अलंकार के रूप में ग्रहण किया जाने लगा और आगे चलकर तो अनेक अलंकारों की भाँति वक्रोक्ति केवल शब्दालंकार का भेद-मात्र रह गया। भोज राज ने अपने ग्रन्थ 'सरस्वती कण्ठाभर' रसोक्ति को सर्वाधिक महत्व दिया है और वक्रोक्ति को उसके अन्तर्गत ही समेट लिया है, किन्तु, आचार्य कुन्तक की दृष्टि सबसे भिन्न है। उन्होंने वक्रोक्ति के अलावा शेष सबको विषय अथवा अलंकार्य माना है और वक्रोक्ति, जो अलंकारों का मूल है, उसे अलंकृति माना है। इस प्रकार स्वाभावोक्ति मतानुसार अलंकार न होकर अलंकार का विषय या अलंकार्य है। सारांश रूप में कुंतक वक्रोक्ति को ही अलंकृति के रूप में देखते हैं। इसी रूप में उन्होंने वक्रोक्ति सिद्धांत का अपने ग्रन्थ में विस्तृत प्रतिपादन किया है। वे लिखते हैं—

'शब्दार्थौ सहितो वक्रकवि व्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तदिवदह्लादकारिणी॥
उभावेतावलंकार्यौ तयो पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणिति रुच्यते॥'

अर्थात् 'वक्रोक्ति अलंकृति है। यही कथन की भंगिमा है, जो उक्ति की सोभा प्रदान करती है। उक्ति में चारुता और चमत्कार का संपादन वक्रोक्ति के द्वारा ही होता है। अतः वक्रोक्ति काव्य का जीवन है। इससे हीन काव्य सजीव नहीं है। वक्रोक्ति उक्ति चमत्कार है। यह विशेषता रचना में कवि की प्रतिभा के संयोग से आती है। इसमें 'अतिशयोक्ति'

का भाव भी है। जब किसी वर्ण विषय में उसके किसी धर्म का विशेषता को अतिशय कथन-चमत्कार (विच्छित्त) के साथ प्रतिपादित किया जाता है, तब वक्रोक्ति की प्रतिष्ठा होती है।'

आचार्य कुन्तक वक्रोक्ति के ६ प्रकार मानते हैं—

(१) वर्ण-विन्यासवक्रता (२) पदपूर्वार्धवक्रता (३) पदपरार्धवक्रता (४) वाक्यवक्रता (५) प्रकरणवक्रता (६) प्रबन्धवक्रता। इनके भी अनेक भेदों का वर्णन उन्होंने किया है।

संक्षेप में यही वक्रोक्ति-सिद्धांत का परिचय है।

प्रश्न २२—ध्वनि सम्प्रदाय का सम्यक् परिचय देते हुए ध्वनि के आधार पर काव्य-भेदों का उल्लेख कीजिये।

संस्कृत के काव्य-संप्रदायों में ध्वनि-सम्प्रदायों का अपना विशिष्ट स्थान है। काव्य की आत्मा ढूंढ़ने के प्रयास में ही यह संप्रदाय भी विकसित हुआ। इस ध्वनि-सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं—आनन्द वर्द्धनाचार्य। इन्होंने ही अपने 'ध्वन्यालोक' में इस सिद्धान्त की सर्वोपरि मानकर ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया। उसके अनुसार—

'काव्यस्यात्मा ध्वनिः।'

अर्थात् 'काव्य की आत्मा ध्वनि है।' यद्यपि इस ध्वनि-सिद्धान्त को इनसे पहले के कई आचार्यों ने भी स्वीकार किया था, किन्तु आत्मा के रूप में नहीं। कुछ विद्वानों ने ध्वनि की आलोचना भी की थी और बताया था कि इनमें अभावत्व अवर्णनीयत्व हैं। किन्तु आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि का अत्यन्त स्पष्टता से सशक्त शब्दों में प्रतिपादन किया और काव्य की आत्मा के रूप में इसे सर्वश्रेष्ठता प्रदान की। इनकी स्पष्ट व्याख्या के होते हुए भी अनेक आचार्यों ने ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध किया, जिनमें मुख्यतः प्रतिहारेन्दुराज, धनंजय, धनिक कुन्तक भट्टनायक महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र आदि आचार्यों का उल्लेख किया जाता है। किन्तु इतने आचार्यों के विरोध के बावजूद भी जब आचार्य अभिनवगुप्त ने

अपने 'ध्वन्यालोक-लोचन' में ध्वनि की व्याख्या प्रस्तुत की और आचार्य मम्मट ने अपने 'काव्य-प्रकाश' में ध्वनि को काव्य में महत्वपूर्ण स्थान देकर अपनी स्थापना की. तो ध्वनि-सिद्धांत श्रेष्ठ एवं महत्वपूर्ण काव्य सिद्धांत के रूप में मान्य हो गया । इसी के आधार पर ध्वनि-काव्य को 'सर्वोत्तम' माना गया और जिस काव्य में गुणीभूत व्यंग्य हो. उसे 'माध्यम' तथा व्यंग्य-रहित काव्य को अवर या हीन काव्य कहा गया ।

डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में, 'ध्वनि सिद्धान्त की सबसे महत्व-पूर्ण विशेषता यह है कि इसने अपने क्रोड़ (अंक) में काव्य से सम्बन्ध रखने वाले समस्त सिद्धांतों का तत्व समेट लिया । व्याकरण का स्फोटवाद इसके मूल में है । असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के रूप में रसध्वनि का एक भेद है । अलंकार में वक्रोक्ति आदि की मूल बातें आ जाती हैं । इस प्रकार यह एक बड़े व्यापाक काव्य-सिद्धांत के रूप में ग्रहण किया गया । ध्वनि की प्रेरणा वैयाकरणों के स्फोटवाद से मिली ।'

यहाँ हमें 'स्फोट' को स्पष्टतः समझ लेना चाहिए क्योंकि यही ध्वनि सिद्धांत के मूल में है, जैसा कि ऊपर के कथन के अन्तिम वाक्य से प्रकट है । डा० मिश्र के ही शब्दों मे 'पूर्ववर्ती वर्णों के उच्चारण के संस्कार के साथ अन्तिम वर्ण के उच्चारण के अनुभव से अर्थ की अभिव्यक्ति स्फोट है ।' इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि 'किसी शब्द के जितने भी वर्ण होते हैं, उनमें से कोई ए वर्ण अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं करता वरन् उस शब्द के पूर्ववर्ती वर्ण या वर्णों के उच्चारण से प्राप्त पूर्व अनुभव के संस्कार के साथ जब अन्तिम वर्ण के उच्चारण का अनुभव मिल जाता है. तब (सभी वर्ण के मेल से या पूरे शब्द से) अर्थ प्रकट होता है । उदाहरणार्थ, कोई भी शब्द लिया जा सकता है मान लीजिए सरस शब्द है इससे स, र या स अलग-अलग अर्थ को व्यक्त करने की सामर्थ्य नहीं अपितु पहले 'स' और इसके बाद 'र' के उच्चारण के पश्चात् दूसरे 'स' का (अन्तिम वर्ण का) उच्चारण हो जाता है । तभी सरस का अर्थ व्यक्त हो पाता है । 'इस प्रकार अंतिम वर्ण के साथ पूर्वोच्चरित वर्णों के

संस्कार से अर्थ का प्रस्फुटन स्फोट है ।

उक्त व्याख्या पर ध्यान देने से यह तथ्य सामने आता है कि जिस तरह शब्द के अलग-अलग वर्ण अर्थ को व्यक्त नहीं कर पाते. उसी तरह अभिधा या लक्षण के द्वारा भी अर्थ सम्पूर्ण रूप में व्यक्त हो पाता, विशेष-कर मार्मिक अर्थ तो नहीं व्यक्त हो पाता है । यह मार्मिक अर्थ व्यक्त करने की शक्ति व्यंजना में ही पाती है । अस्तु, अभिधा और लक्षणा के उपरांत व्यंजना से ध्वनित होने वाला चमत्कारिक अर्थ ही ध्वनि है ।' इस ध्वनि की ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन 'अनुरणन' के रूप में मानते हैं । ध्वन्या-लोकलोचन के अनुसार 'जिस प्रकार घण्टे पर आघात करने पर पहले टंकार और फिर मधुर झंकार एक के बाद एक अधिक मधुर रूप में सुनायी पड़ती है (अनुरणन' का भाव यही है ।) उसी प्रकार व्यंग्यार्थ भी ध्वनित होता है ।' इसी दृष्टिकोण के आधार पर जहाँ व्यंग्यार्थ प्रधान रूप से ध्वनित हो, वहाँ ध्वनि मानी जायगी ।

आचार्य आनन्दवर्द्धन का मत है कि 'ध्वनि-काव्य वह विशिष्ट प्रकार का काव्य है, जिसमें शब्द और अर्थ अपने स्वरूप को छिपाते हुए उस अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, जो काव्य का परम रहस्य है ।' अतएव यही उत्तम काव्य है ।

आचार्य मम्मट कहते हैं—'वाक्यार्थ से अधिक उत्कृष्ट व्यंग्य ही विद्वानों द्वारा ध्वनि कही गयी है ।'

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार भी 'वाक्यार्थ से अधिक चमत्कारक व्यंग्यार्थ ध्वनि है ।'

ध्वनि काव्य का सम्बन्ध वाक्यार्थ और व्यंग्यार्थ से ही है । इसलिए ध्वनि से ठीक से समझने के लिए 'शब्द-शक्तियों' की विवेचना भी की गयी है ।

शब्द और अर्थ का अभिन्न संबन्ध है । शब्द का व्यापार अर्थगत है, अर्थ को स्पष्ट करने वाली या अर्थगत प्रभाव डालने वाली शक्ति शब्द में ही निहित होती है । अतः शब्द का अर्थ-बोध करने वाली शक्ति ही शब्द

शक्ति' कही जाती है। शब्द-शक्तियाँ तीन हैं—अभिधा लक्षणा और व्यंजना इन्हीं के आधार पर शब्द भी तीन प्रकार के माने गये हैं, जो क्रमशः वाचक लक्षक और व्यंजक कहे जाते हैं तथा अर्थ के तीन प्रकार व्यंजना-शक्ति को ही प्रमुखता दी गयी है।

व्यंजना की प्रमुखता का आधार ग्रहण करते हुए ध्वनि-सिद्धान्त में काव्य के तीन-तीन भेद किये हैं वे भेद हैं—१. ध्वनि-काव्य २. गुणीभूत व्यंग्य-काव्य और ३. अवर-काव्य।

१. ध्वनि काव्य—वह है जिस काव्य में वाक्यार्थ से अधिक चमत्कार पूर्ण व्यंग्या.र्थ हो। यही सर्वोत्तम काव्य माना जाता है।

२. गुणीभूत व्यंग्यार्थ काव्य—वह है, जिसमें वाक्यार्थ की अपेक्षा-व्यंग्य या तो गौण होता है या कम चमत्कारपूर्ण। यह मध्यम कोटि का काव्य है।

३. अवर-काव्य—वह है, जिसमें व्यंग्यार्थ होता ही नहीं। इसको अधम काव्य, साधारण काव्य, चित्र-काव्य आदि भी कहा गया है।

उपर्युक्त वर्गीकरण ही अधिकांश ध्वनिवादी आचार्य मानते हैं। किन्तु, पण्डितराज जगन्नाथ का विचार इससे मेल नहीं खाता। उनका विचार यह है कि 'व्यंग्यार्थ चाहे किसी तरह का हो, वह उत्तम कोटि में ही माना जायगा।' इस तरह उनके अनुसार काव्य के भेद भी उक्त प्रकार से होकर निम्न प्रकार से हैं :—

१. उत्तमोत्तर—जिसमें ध्वनि-काव्य आता है।

१. उत्तम—जिसमें गुणीभूत व्यंग्य-काव्य आता है।

३. मध्यम—अन्य अर्थालंकार काव्य।

निष्कर्ष यह है कि ध्वनि का आधार है—व्यंग्यार्थ। यह व्यंग्यार्थ और लक्ष्यार्थ पर आधारित होता है। अतएव ध्वनि भी अभिधा और लक्षणा पर आधारित मानी जाती है।

इसलिए ध्वनि के मुख्यतः दो भेद हैं—

१. लक्षणामूल ध्वनि—इसे अविवक्षित 'वाच्य-ध्वनि' भी कहते हैं। यह ध्वनि वहाँ मानी जाती है जहाँ अधिक चमत्कारि व्यंग्यार्थ में वाच्यार्थ की विवक्षा या प्रयोजन नहीं होता। वहाँ व्यग्यार्थ पर ही आधारित होता है। यही कारण है कि इसे लक्षणामूला ध्वनि कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं—१. अर्थान्तर संक्रमित और २. अत्यंत तिरस्कृत।

२. अभिधामूला ध्वनि—या 'विवक्षतान्यपरवाक्य ध्वनि'—वह है, जिसमें वाच्यार्थ की विविक्षा या प्रयोजन होता है और सप्रयोजन होता है, दूसरे शब्दों में, इसमें वाच्यार्थ वांछनीय होता है और सप्रयोजन होता है, उसे अन्यपरक और व्यग्यनिष्ठ भी होना चाहिए। इस ध्वनि का व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ पर आधारित होता है। इसके भी दो भेद हैं—१. संलक्ष्यक्रम व्यग्यध्वनि तथा २. असंलक्ष्य क्रम व्यंग्यध्वनि। फिर इनके भी कई-कई भेद किये गये हैं।

नोट :—पाठक ध्वनियों को इन अनेक भेद-विभेदों का विस्तृत अध्य-यन चाहें तो, अन्यत्र से कर लें।

प्रश्न २३—काव्य के वर्गीकरण के पाश्चात्य और भारतीय दृष्टि कोणों को ध्यान रखते हुए गद्य और पद्य का अन्तर स्पष्ट कीजिए और पद्य-काव्य के प्रमुख भेद भी बतलाइए।

विद्वानों ने काव्य के अनेक प्रकार के भेद किये हैं। इस भेद और विभाजन को समझाने के लिए उन्होंने कई आधार ग्रहण किये हैं। पाश्चात्य विद्वानो के काव्य-विभाजन के आधार और उनके दिये हुए काव्य के विभिन्न रूप भारतीय परम्परा से भिन्न हैं।

पाश्चात्य-दृष्टिकोण—पाश्चात्य आलोचित व्यक्ति और संसार को पृथक् मानकर-आप-बीती और जग-बीती के आधार पर—काव्य के दो भेद करते हैं—

(१) विषयी-प्रधान या विषयगत (Subjective) और

(२) विषय-प्रधान या विषयगत (Objective)।

इनमें पहले प्रकार का काव्य ऐसा होता है जिसमें कवि प्रधान होता

है। इसे ही 'Lyric' कहते हैं, जिसे प्रायः प्रगीत या भाव-प्रधान काव्य भी कहते हैं। इसमें गीति-तत्व प्रधान होता है।

दूसरे प्रकार का काव्य ऐसा होता है, जिसमें कवि के अतिरिक्त शेष जगत को प्रधानता दी जाती है। इसे अनुकृत या प्रकथनात्मक Narrative कहा गया है। इसी के उपविभाग के रूप में महाकाव्य और खण्डकाव्य हैं, किन्तु इस भेद का प्रतिनिधित्व महाकाव्य (Epics) ही करते हैं, क्योंकि पाश्चात्य देशों में खण्डकाव्य की कोई विशेष अलग स्थिति नहीं है।

उक्त विभाजन कविता (पद्य) को ही दृष्टि में रखकर किया गया है जिसे मनोवैज्ञानिक तो कहा जा सकता है, किन्तु निर्दोष नहीं। कारण यह है कि अनुकृत काव्य (महाकाव्य) में भीगेयत्व (गीति-तत्व) हो सकता है, जैसे हमारे यहाँ का रामचरित मानस और साथ ही उसमें भाव-प्रधानता या वैयक्तिक भावना की मुख्यता भी होती है। वस्तुतः भाव प्रधानता ही काव्य का प्राण है। ऐसे ही गीतिकाव्य भी बाह्य जगत से असम्बद्ध हो ऐसी बात भी नहीं है और उसमें प्रकथन भी थोड़े-अश में ही सही मिलता अवश्य है। अतः इन दोनों के बीच सीमा-रेखा खींचना कठिन है।

गद्य को दृष्टि में रखकर भी उक्त विभाजन हो सकता है—गद्य-काव्य को भाव-प्रधान काव्य के स्थान पर, उपन्यास को महाकाव्य के स्थान पर और कहानी को खण्डकाव्य के स्थान पर रखा जा सकता है। किन्तु गद्य के अन्य रूप—निबन्ध रेखाचित्र रिपोर्ताज आदि उक्त विभाजन की सीमा में ठीक से बंध नहीं पाते। यह तो मानना ही पड़ेगा कि गद्य (Prose) भी काव्य के क्षेत्र में ही आता है और पद्य इसका उल्टा रूप होता है जिसे अंग्रेजी में (Verse) कहते हैं।

उपर्युक्त बातों का ध्यान रखकर गुलाबराय जी कहते हैं—'इस संबंध में हम यह कह सकते हैं यह विभाजन प्रगीत या प्रकनात्पक तत्वों की प्रधानता पर निर्भर है। नाटक को प्रायः बीच का स्थान दिया जाता है। वह विषय-प्रधान तो होता है, किन्तु उसमें महाकाव्य-का-सा कवि की ओर

से प्रकथन नहीं होता।' इस कथन से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि काव्य के विभाजन का पाश्चात्य दृष्टिकोण, भारतीय दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न न होते हुए भी पर्याप्त रूप से भिन्न है।

भारतीय दृष्टिकोण—भारतीय आचार्यों ने नाटक को अधिक प्रधानता दी है और इसी कारण काव्य का विभाजन करते समय नाटक को 'दृश्य-काव्य' कहा है। यद्यपि नाटक केवल दृश्य ही नहीं होता, श्रव्य भी होता है, क्योंकि रंगमंच पर अभिनय देखने में केवल नेत्रेन्द्रिय का नहीं, वरन् श्रवणेन्द्रिय का भी उपयोग होता है (अभिनेता के शब्द काव्य आदि सुनने के लिए) इसको दृश्य काव्य कहने का अभिप्राय यही है कि नाटक मे अभिनय की—उसे आँखों की देखने की—बात मुख्य होती है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अब तो बहुत से ऐसे नाटक (नाटक के तत्वों से परिपूर्ण होते हुए भी) श्रव्य या पाठ्य ही कहे जा सकते हैं, जिनका अभिनय रंगमंच पर या तो रंगमंच के अभाव में या अभिनय या किसी भी कठिनाई के कारण सम्भव हो पाता; 'रेडियो नाटक तो केवल श्रव्य ही है।

इसी प्रकार श्रव्य काव्य को दृश्य काव्य की ही भाँति श्रवणेन्द्रिय के आधार पर दूसरा भेद माना गया है। यद्यपि श्रव्य काव्य पाठ्य भी होते किन्तु प्रचीन काल की परिस्थितियाँ न तो काव्य के एकान्त सेवन के लिए उपयुक्त थीं और न (छापे के अभाव में) उनका पाठ्य-काव्य के रूप मे ही प्रचार था। अतः गायन द्वारा ही काव्य का प्रचार होने से (नाटक के अतिरिक्त) काव्य के अन्य रूप श्रव्य काव्य कहे जाने लगे।

इस प्रकार काव्य के उक्त विभाजन का भारतीय आधार इन्द्रियों का उपयोग है। इसे ध्यान में रखकर काव्य के दो भेद (दृश्य काव्य और (२) श्रव्य काव्य किये-गये हैं।

१—दृश्य काव्य—को रूपक या नाटक भी कहते हैं इसे आचार्यों ने पंचम वेद भी कहा है, जिसमें अल्पबुद्धि या शूद्र भी भाग ले सकते हैं

अर्थात् यह जन साधारण के लिए भी है पढ़े-लिखे लोगों के लिए तो है ही। इसके भी कई भेद हैं।

२—श्रव्य काव्य—नाटक के अतिरिक्त, शेष काव्य इसी भेद के अन्तर्गत आते हैं। इसके भी कई भेद हैं।

उक्त विभाजन के अतिरिक्त दूसरा विभाजन आकार या रचनाविधि के आधार पर किया गया है। इस दृष्टि से काव्य के दो रूप हैं—

(१) गद्य और (२) पद्य।

स्पष्ट है, यह विभाजन गद्य रचना के पश्चात् हुआ है। वस्तुतः गद्य भी काव्य-क्षेत्र के अन्तर्गत है पृथक् नहीं।

गद्य—छन्दहीन रचना है और पद्य—छन्दबद्ध रचना है।

गद्य – पद्य का अन्तर डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में, 'पद्य मे छन्दों के नियमों का पालन होता है, उसके अन्तर्गत एक नियमित गति या लय का निर्वाह होता है वह लय काव्य को एक विलक्षण आकर्षण संगीतात्मकता और स्मरणीयता प्रदान करती है। रचनाकार एक-एक शब्द को तोल-तोल कर पंक्तियों में बैठाता है। इस प्रकार भाव और कल्पना की दीप्ति से ज्योतित ये शब्द नियमित गति से बँधकर एक गतिमय सौन्दर्य प्राप्त करते हैं। शब्द जैसे नर्तन कर रहे हैं। पद्य शब्दों में नर्त्तन है और गद्य सामान्य गति। गद्य में अर्थ की स्वाभाविकता के लिए व्याकरण के नियमों का पालन होता है, पर पद्य में ये नियम शिथिल हो जाते हैं। ......पद्य में अर्थ से भी अधिक महत्व छन्द के नियम का रहा है।'

उक्त कथन से गद्य और पद्य का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। किन्तु छन्द के सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने की है कि आजकल पन्त और निराला-जैसे कुशल कवियों तथा उन्हीं के आधार पर आज के अनेक कवियों ने छन्द के नियमों को आवश्यक नहीं माना है और छन्द-हीन काव्य-रचना की है। वे छन्द के लय का ढाँचा मानते हुए यह व्यक्त करते हैं कि छन्द के बिना भी लय की साधना हो सकती है और कविता स्फुरण जिस रूप में हमारे अन्तःकरण से हो उसी रूप में प्रस्तुत करनी चाहिए

नबंद्ध रूप देना आवश्यक नहीं। इस शिथिलता की ओर दृष्टि डालते ए डा० मिश्र कहते हैं—'परन्तु इस शिथिलता में आलसता के सूक्ष्म नियम ाम करते हैं और इसी कारण सामान्य गद्य से यह कविता अलग नहीं है।'

एक दूसरा अन्तर भी ध्यान देने योग्य है कि गद्य और पद्य में केवल चना-विधि या शिल्प अथवा आकार का ही नहीं, वरन् भाव का भी भेद ोता है, जैसा कि उक्त कथन से भी स्पष्ट है।

बाबू गुलाब राय भी कहते हैं—'पद्य में गद्य की अपेक्षा भाव का ाधान्य रहता है। गद्य का संबन्ध गद धातु से है, वह बोलचाल की भाषा । पद्य का संबंध पद से है, इसलिए उसमें नृत्य की सी गति रहती है। ह भाव की गति और शक्ति के साथ बहती है।'

इस प्रकार गद्य और पद्य के अन्तर को समझ कर यह भी स्मरणीय है कि 'गद्य काव्य' की गद्य-रचना 'गद्य-काव्य' का एक अलग भेद है, जैसे 'काव्य' का एक भेद केवल 'काव्य' होता है। (यह बात व्यापकता की दृष्टि से है।)

आकार की दृष्टि से ही गद्य और पद्य के अलावा काव्य का एक तीसरा भेद भी माना गया है—'मिश्रत'—जिसमें गद्य और पद्य का मिश्रण होता है। 'चम्पू के नाम से भी इस तीसरे भेद का भी उल्लेख किया जाता है किन्तु वास्तव में 'चम्पू' 'मिश्रित काव्य' का एक भेद मात्र है।

श्रव्य काव्य के भेद—बन्ध (क्रमबद्धता) या कथानक के आधार पर भी काव्य के दो भेद किये गये हैं [१] प्रबन्ध काव्य और [२] मुक्तक काव्य। प्रबन्ध काव्य के दो भेद किये गये हैं—[१] महाकाव्य और [२] खण्ड काव्य।

प्रबन्ध काव्य में तारतम्य होता है किन्तु मुक्तक में इसका अभाव होता है, इसलिए मुक्तक मुक्त रहने वाला) कहते हैं।

महाकाव्य—गुलाबराय जी के शब्दों में, 'महाकाव्य आकार की विशालता के साथ भावों की उदात्तता और विशालता रहती है। उसमें

जीवन की अनेकरूपता और शाखा-बाहुल्य के साथ जातीय जीवन की झलक रहती है।'

खन्डकाव्य—'खन्डकाव्य में एक ही घटना की मुख्यता दी जाती है उसमें जीवन के किसी एक पहलू की झांकी-सी मिल जाती है।'

मुक्तक—'स्फुट कविताएं मुक्तक में आती हैं। मुक्तकों से कुछ तो मुख्य रूप से पाठ्य होते हैं और कुछ विशेष रूप से गेय। गेय को ही 'प्रगीत काव्य' कहते हैं।

उक्त विभाजन मुख्यत: पद्य की दृष्टि है, किन्तु गद्य की दृष्टि में रखें, तो उसमें भी यह विभाजन लागू हो सकता है। गुलाबराय जी के शब्दों में. उपन्यास महाकाव्य का स्थानापन्न होकर और कहानी खंडकाव्य के रूप में गद्य के प्रबन्ध काव्य कहे जा सकते हैं। गद्य-काव्य तो मुक्तक है ही। पत्र भी मुक्तक कोटि में आयेंगे। उनकी निबन्ध और जीवन के बीच की-सी स्थिति है किन्तु निबन्ध के भीतर एक बन्ध रहता है (यद्यपि उसमें निजीपन और स्वच्छन्दता रहती है)।'

इसमें स्पष्ट है कि गद्य-काव्य के भीतर उसके उपभेदों के रूप में बन्ध और वैयक्तिक तत्व की दृष्टि से उपन्यास कहानी जीवन निबन्ध पत्र और गद्य काव्य आदि आते हैं। पद्य काव्य के भीतर महाकाव्य खंडकाव्य और मुक्तक काव्य आते हैं। ये सब श्रव्य काव्य के विविध रूप हैं।

विशेषत: छन्द की दृष्टि से पद्य काव्य के भेद डा० मिश्र ने इस प्रकार स्पष्ट किये हैं—

१—प्रबन्ध काव्य—यह पद्य रचना है' जिसके छन्द कथा सूत्र की व्यवस्था से पिरोये रहते हैं। उसके छन्दों के क्रम को बदला नहीं जा सकता।

२—निबद्ध काव्य—वह पद्य रचना है, जिसके अन्तर्गत छन्द किसी विचार-सूत्र या भावधारा से व्यवस्थित रहते हैं। इस रचना में भाव या

विचार का विकास क्रमशः दिखाई देता है इसी की नियद्धता रहती है।

३–निर्बन्ध या अनिबद्ध या मुक्तक काव्य—वह पद्य रचना है। जिसके छन्द स्वतःपूर्ण और स्वतन्त्र रहते हैं और किसी भी क्रम से संकलित किये जा सकते हैं। ये क्रम के किसी आंतरिक नियम से बंधे नहीं होते हैं।

इस विभाजन से यह भी स्पष्ट है दि प्रबन्ध काव्य (महाकाव्य खंड काव्य तथा मुक्तक काव्य के अलावा निबंद्ध काव्य भी पद्य काव्य का एक प्रमुख भेद है।

प्रश्न २४—महाकाव्य के स्वरूप के संबंध में भारतीय एवं पाश्चात्य (प्राचीन एवं आधुनिक) धारणा का संक्षिप्त उल्लेख करते हुए महाकाव्यों को वर्गीकृति कीजिये।

बन्ध के आधार पर काव्य (पद्य-काव्य या कविता) के तीन प्रमुख भेद किये गये हैं—प्रबंध अनिबद्ध और निबद्ध। प्रबंध काव्य के भी दो रूप हैं—महाकाव्य और खण्डकाव्य।

महाकाव्य शब्द में 'महा' से यह द्योतित होता है कि कथानक क्रम-बद्धता और बन्ध तथा छन्द की दृष्टि से ऐसा काव्य उदात्तता विशालता और तारतम्यता से परिपूर्ण होगा। यही कारण है कि महाकाव्यों को काव्य मे सर्वोपरि स्थान प्राप्त हुआ है और पाश्चात्य तथा भारतीय समीक्षकों ने महाकाव्य का स्वरूप समझने का बहुत प्रयास किया है। यद्यपि प्राचीन-काल की महाकाव्य संबधी धारणा में और आधुनिक महाकाव्य-सम्बन्धी धारणा में बहुत कुछ अन्तर आ गया है, जैसा कि साहित्य के अन्य रूप-विधानो में भी स्पष्ट है किन्तु उत्तम कोटि के विख्यात महाकाव्य भारत मे और पश्चिमी देशों में पुराने समय मे ही लिये गये हैं। अतः सर्वप्रथम महाकाव्य की पुरानी धारणाओं को समझना अपेक्षित है।

भारतीय धारणा—महाकाव्य की धारणा और स्वरूप का विवेचन अनेक संस्कृताचार्यों ने किया है। 'अग्नि-पुराण' के अन्तर्गत काव्यादि

लक्षण के सन्दर्भ में महाकाव्य की सर्वप्रथम विवेचना उपलब्ध है। उसके बाद आचार्य दण्डी के 'काव्यादर्श' में विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्र यशोभूषण' (महाकाव्य वर्णन प्रसंग) में, हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' में और विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' में महाकाव्य के लक्षणादि का वर्णन मिलता है। वस्तुतः महाकाव्य-संबंधी धारणा का पूर्ण विकास 'साहित्य दर्पण में ही है जिसके विवरण में महाकाव्य के प्रत्येक अंग की स्पष्ट धारणा प्रकट की गई है।

साहित्य दर्पण के महाकाव्य-सम्बन्धी उल्लेख को सात भागों में विभक्त करके व्यवस्थित किया गया है। ये विभाग डॉ० भगीरथ मिश्र के आधार पर अधोलिखित रूप में हैं—

१. कथावस्तु—महाकाव्य की कथा वस्तुतः विस्तृत होती है और सम्पूर्ण जीवन की घटनाओं को प्रस्तुत करती है। इसे नाटक की संधियों के नियमों की तरह ही आठ से अधिक सर्गों में संगठित होना चाहिए। कथा आशीर्वचन से या मंगलाचरण आदि से प्रारम्भ होना चाहिए। प्रत्येक सर्ग के अन्त में अगले सर्ग की सूचना होनी चाहिए। इसकी कथा इतिहास से ली जानी चाहिए या किसी महा पुरुष सज्जन की वास्तविक जीवन-गाथा के आधार पर होनी चाहिए।

१. नायक—महाकाव्य का नायक कोई देवता, उच्चकुल में उत्पन्न क्षत्रिय अथवा एक वंश में उत्पन्न हुए राजा और अनेक वंशों में उत्पन्न हुए राजा हो सकते हैं, किन्तु उनमें धीरोदात्त गुण का समावेश उपेक्षित है। ऐसे व्यक्ति का चरित्र निश्चय ही समाज में सद्वृत्तियों का विकास करने वाला और दुर्वृत्तियों का नाश करने वाला होगा।

३. रस—महाकाव्य में सभी रसों का वर्णन होना चाहिए। व्यापक जीवन के विविध वृत्तांत वाले कथानक में विभिन्न रसों का होना आवश्यक है किन्तु कथावस्तु और चरित्र में एक निश्चित एवं क्रमबद्ध विकास के लिए शृंगार, वीर और शान्त—इन तीनों रसों में से किसी एक रस का प्रधान होना आवश्यक माना गया है। अन्य रस गौण के रूप में आ

ाहिए । इस प्रकार एक महाकाव्य में जीवन की विविध सुख-दुख से पूर्ण रिस्थियों का संघर्षपूर्ण चित्रण अनिवार्य हो जाता है ।

४. छन्द कथा के विकास और रस-प्रवाह की अबाध गति के लिए क सर्ग में एक छन्द के प्रयोग का नियम है । सर्ग के अन्त में छन्द बद-ना चाहिए, इस तरह नया सर्ग नए छन्द से शुरू होना चाहिए । किन्तु न्द-चमत्कार, वैविध्य या अद्‌भुत रस की निष्पत्ति के लिए किसी एक र्ग में अनेक छन्दों का प्रयोग भी किया जा सकता है ।

५: वर्णन—महाकाव्य में विविधता और यथार्थता दोनों ही कम ोना आवश्यक है । अत: इसके भीतर जीवन के सभी दृश्यों, प्रकृति के विभिन्न रूपों और विविध भावों का वर्णन होना चाहिए । महाकाव्य में स प्रकार अनेक सांस्कृतिक चित्रण स्थान प्राप्त करते हैं, जो सामाजिक ूल्य और महत्व भी रखते हैं । इसका (महाकाव्य का) समाज पर प्रभाव डना अवश्यम्भावी है, अत: वर्णन मे कहीं-कहीं सज्जनों की प्रशंसा और ुर्जनों की निन्दा का भी विधान होना चाहिए ।'

प्रारम्भ में मंगलाचरण भी आवश्यक है । (यह गुलाबराय जी ने लिखा है पर डा० मिश्र ने शायद गौण मानकर छोड़ दिया ।)

६. नाम—महाकाव्य का नाम कवि, नायक या कथातत्व के आधार पर होता है, जिससे तत्संबंधी ज्ञान हो सके । विख्यात वृत्त के कारण उसके संबध मे हमारे भाव पहले से ही बने होते हैं, जो वर्ण से जाग्रत होते हैं ।

७. उद्देश्य—महाकाव्य का उद्देश्य चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति बतायी गयी है । वस्तुत: इसका आधार नायक होता है, जो इन चार पुरुषार्थों में से किसी एक या एकाधिक की प्राप्ति करता है, जिसमें संघर्ष, साधना, चरित्र-विकास और उच्च गुणों की अपेक्षा होती है इनका चित्रण विभिन्न परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में किया जाता है । अत: महाकाव्य एक युगप्रवर्तनकारी संघर्ष-चित्रण या सांस्कृतिक उद्‌घाटन का महान कार्य करता है या एक लोकप्रिय महान् व्यक्तित्व का चित्रण

करता है। इसी चित्रण के आधार पर महाकाव्य की उपर्युक्त विशेषता आ पाती हैं, अन्यथा संभव नहीं और इसी आधार पर महाकाव्य विशाल एवं गौरवमय हो पाता है।

पाश्चात्य धारणा—महाकाव्य को अंग्रेजी मे (Epic) कहा गया और इसे काव्य के एक प्रधान विभाग के रूप में विषय-प्रधान (Objective) माना गया है। इसे वृहदाकार प्रकथन-प्रधान (Narrative) काव्य माना जाता है।

महाकाव्य-संबधी पश्चिमी धारणा का विश्लेषण करके डा. भगीरथ मिश्र ने मुख्यत: पाँच बातें स्पष्ट की हैं, जो उनके अनुसार निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत हैं :—

१. कथानक—'एपिक' का कथानक ऐतिहासिक होना चाहिए। कुछ विद्वानों के अनुसार उसमें काल्पनिक घटनाओं का भी समावेश हो सकता है। उसमे महत्त्वपूर्ण घटनाओं का संगठन अपेक्षित है। उसका कथानक ऐसा व्यापक हो कि उसमें जीवन के विविध पक्षों का उद्‌घाटन हो सके और पाठकों का मन उसमें रम सके।

२. चरित्र-चित्रण—पाश्चात्य विद्वानों ने चरित्र-चित्रण में नायक पर ही विशेष ध्यान दिया है। नायक इतिहास का सुप्रसिद्ध व्यक्ति होना चाहिए। यद्यपि कुछ लोग उसे सम्राट या महापुरुष रूप में ही मानते हैं, तथापि इतना अवश्य है कि वह चाहे जो भी हो उसमें उदात्त गुणों का समावेश वांछनीय है। वह प्रतिष्ठित परिवार का व्यक्ति हो यह सभी स्वीकार करते हैं। नायक के कार्य ऐसे हों जिनकी सभी लोग प्रशंसा करें।

३. वर्णन—एपिक वर्णन-प्रधान काव्य है। आख्यान और महाकाव्य दोनों की धारणा इसमें सम्मिलित है अतः वर्णन सम्बन्धी विशेषताएं इसमें सम्मिलित की गयी हैं। कुछ लोगों के मतानुसार समस्त घटनाओं का वर्णन अत्यन्त रोचक ढंग से होना अपेक्षित है जिससे जीवन के दृश्य सजीवता से प्रस्तुत हो सकें। पृष्ठभूमि घटनाओं कार्यों और चरित्रों सबका वर्णन द्वारा ही—इनमें उद्‌घाटन होता है।

४. शैली—कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने 'एपिक' में वीर छन्द (Heroic etre) को ही स्वीकार किया है, किन्तु वीर छन्द का प्रयोग केवल वीर व के ही वर्णन में सम्भव है। 'एपिक' में वीर भाव के अतिरिक्त, प्रेम क्ति. करुणा आदि के भावों का वर्णन भी होता है, अतः उनके अनुरूप न्दो का प्रयोग ही उचित कहा जा सकता है। अतएव शैली विषय एवं र्णन के अनुकूल होना चाहिए।

५. उद्देश्य—कुछ विद्वान (प्राचीन) 'एपिक' का उद्देश्य नैतिक और र्मिक मानते हैं किन्तु अरस्तू के अनुसार महाकाव्य का उद्देश्य सत्य का द्घाटन और आनन्द है। निस्संदेह संकीर्ण नैतिकता या केवल धार्मिकता ो ही महाकाव्य का उद्देश्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। महान् द्देश्य का व्यापक प्रभाव के साथ प्रस्तुत करने से इसमें आनन्द और नोरंजन अपने आप समाविष्ट हो जाता है।

तुलनात्मक दृष्टि—पाश्चात्य और भारतीय—दोनों महाकाव्य-संबंधी ारणाओ पर दृष्टि डालते हुए गुलाबराय जी लिखते हैं—'महाकाव्य के ारतीय और पाश्चात्य आदर्शों में विशेष भेद नहीं है। दोनों ही आदर्शों अनुकूल महाकाव्य का नायक उच्चकुलोद्भव तथा उत्तम विचारों का ोता है। उसकी महान् कृतियों विजयों-यात्राओं और महत्त्वपूर्ण कार्यों में ातीय भावनाओं महत्त्वाकांक्षाओं और आदर्शों का प्रकाशन होता है और ायक के द्वारा जातीय, राजनैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान दिखाया ाता है। महाकाव्य आकार में भी बड़ा होता है, उसके साथ उसकी ैली और विषय दोनों ही गौरवपूर्ण होते हैं। महाकाव्य जाति की ांस्कृतिक चेतना के द्योतक होते हैं। महाकाव्य का कवि भी नायक की ाति स्वयं सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक बन जाता है।

महाकाव्यों में प्रायः दैव का भी हाथ रहता है, किन्तु उस दैव के स्तक्षेप के द्वारा भी मानवीय गौरव की स्थापना हो जाती है। दैव हस्त ेप के संबंध में पश्चिमी और पूर्वी आदर्शों में थोड़ा अन्तर है। पश्चिमी हाकाव्यों में, विशेषकर यूनानी महाकाव्यों में दैव को ऐसी क्रूर सत्ता के

रूप में दिखाया गया है, जो मानव के उत्पीड़न में प्रसन्नता का अनुभव करती है। हमारे यहाँ मानव का उत्पीड़न चाहे परीक्षा के लिए हो कि हृदय के देवता लोग सहानुभूतिपूर्ण रहते हैं। हमारे यहाँ जो मनुष्य सुख दुःख भोगता है, वह अपने कार्यों के अनुकूल है'''इस दृष्टि से यदि दे की क्रूरता होती है तो वह अकारण नहीं होती।

महाकाव्य का चित्र पट विस्तृत होता है और उसमें अंक विशे अन्वित रहती है वह अन्वित चाहे नायक के व्यक्तित्व के द्वारा चाहे लक्ष की एकता के द्वारा सम्पादित की जाय।

डा० भगीरथ की दृष्टि में महाकाव्य की विशेषताओं का विश्लेषण संस्कृत साहित्य में विशेष विस्तृत और तथ्यपूर्ण है जिसमें उनका निश्चि स्वरूप विकसित हो पाया है। फिर भी कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने महा काव्य के गौरव के अनुकूल है।

महाकाव्य के प्राचीन और आधुनिक आदर्शों में अन्तर—

पूर्वोक्त विश्लेषण में यह बात बतायी जा चुकी है कि भारतीय धारणा के अन्तर्गत वर्णन के प्रारम्भ में मंगलाचरण आवश्यक है संस्कृत के पुराने महाकाव्यों और हिन्दी 'रामचरित मानस' तथा साकेत में भी प्रत्येक सर्ग के आरम्भ मंगलाचरण है किन्तु अब इसकी आवश्यकता नहीं समझी जाती जैसा कि अन्य महाकाव्य के देखने से स्पष्ट होता है। इतना ही नहीं प्रारम्भ मे मगल-सूचक शब्दों को रखना भी आवश्यक नहीं माना जाता। बाबू गुलाबराय ने लिखा है कि प्राचीन काल में भी इस नियम का बहुत कड़ाई के साथ पालन नहीं होता था। महाकवि कालिदास के कुमारसम्भव में मगलाचरण नही है उसमें हिमालय का वर्णन आवश्यक है जो विशालता का द्योतक है।' कुछ लोग कुमारसंभव के पूर्ण होने का कारण मंगलाचरण का अभाव मानते हैं और कुछ लोग देवताओं के शृंगार-वर्णन के दोष के कारण इसे अपूर्ण रह जाने की दलील देते हैं। जो भी हो वह महाकाव्य पूर्ण नहीं हुआ। यदि हम मंगलाचरण का अभाव इसकी अपूर्णता का कारण कहेंगे तो यह असंगत होगा. क्योंकि हिन्दी के

अनेक महाकाव्य मंगलाचरण-विहीन हैं। प्रसाद की कामायनी के प्रारम्भिक छन्द 'हिमगिरि······बेदना' को कुछ लोग मंगलसूचक शब्दावली मानते हैं, क्योंकि कुमारसंभव की तरह हिमालय में उसकी ओर संकेत होने से विशालता की बात आ जाती है और एक तत्व की प्रधानता में कुछ लोग एक ईश्वर या एक सत्ता की प्रधानता का संकेत पाते हैं। प्रिय-प्रवास का आरम्भ 'दिवस का अवसान···था।' देखकर कुछ लोग तर्क देते हैं दिवस मंगल सूचक शब्द है और 'अवसान' से उसके विरह काव्य होने संकेत का मिलता है मंगलाचरण के अभाव में उसे निबन्ध नहीं कहा जा सकता।

दूसरी बात नायक की है। इसके संबंध में भी आज कल कुछ शिथिलता देखने को मिलती है। उदाहरणार्थ 'प्रसाद' की कामायनी में नायक है—मनु किन्तु प्रधानता मिली है—श्रद्धा' को। अतः कह सकते हैं कि 'नायक' शब्द में 'नायिका' भी सम्मिलित है अर्थात् नायक प्रधान महाकाव्य के अतिरिक्त नायिका प्रधान महाकाव्य हो सकता है।

इसी प्रकार यदि हिन्दी के महाकाव्य विशेषकर कामायिनी साकेत प्रिय प्रवास 'कुरुक्षेत्र' आदि तो देखें तो अनेक सूक्ष्म अन्तर दृष्टिगत हो सकते हैं।

उदाहरणार्थ बौद्धिकता का आग्रह विविध राजनैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन तथा नवयुग की निर्मित के लिए कवि का व्यक्तिगत सन्देश आदि।

इसके अतिरिक्त नयी बात यह भी है कि आधुनिक युग के कई के बीच-बीच में गीतों का समावेश हुआ है। वस्तुतः यह सब कुछ युग का प्रभाव एवं प्रभाव है। साहित्य के आलोचक महारथियों को इन तत्वों की ओर दृष्टि डालनी चाहिए और महाकाव्य के नये मानदण्ड स्थिर करने चाहिए।

महाकाव्य के चार महान तत्व—महाकाव्य में जो उपर्युक्त विशेषताएँ बतायी गयी हैं, उनको महाकाव्य के लिए अनिवार्य समझना चाहिए।

किन्तु, महाकाव्य कहे जाने वाले ग्रन्थों का विश्लेषण करें तो स्पष्ट होगा कि उनहीं किसी-किसी में एक दो विशेषताएं क्षीण हैं और एक दो अधिक प्रकट हैं। इस दृष्टि से महाकाव्य को परखने के अतिरिक्त यह ध्यान देने योग्य बात है कि महाकाव्य की विशेषताएँ होने पर भी कोई ग्रन्थ-विशेष महाकाव्य कहा जाय, यह कोई आवश्यक नहीं है। वस्तुत: डा. मिश्र के शब्दों में 'महाकाव्य में कृति का युगान्तर स्थाई रूप प्रकट होना चाहिए।

उक्त दृष्टिकोण सम्बन्धी समग्र विचारों एवं भावनाओं को एकत्र करके विश्लेषित करने पर पता चलता है कि महाकाव्य के ४ आधार भूत तत्व हैं जिन पर महाकाव्य आधारित माना जा सकता है। डा० मिश्र के अनुसार, वे तत्व अधोलिखित हैं—

१—महान कथानक, २—महान चरित्र, ३—महान संदेश और ४—महान शैली।, इन सभी महान तत्वों को संगठित होने पर कोई काव्य महाकाव्य की संज्ञा प्राप्त करती है।

इन चार तत्वों में से कोई तत्व महाकाव्य में सर्वोत्कृष्ट रूप में होता है, तो किसी ओर में कोई तत्व। अस्तु, इस सर्वोत्कृष्ट तत्व के आधार पर महाकाव्यों का वर्गीकरण ४ वर्गों मे किया गया है, जो वर्णन सहित अधोलिखित हैं।

१—कथा-प्रधान महाकाव्य—'जिन महाकाव्यों मे अन्य विशेषताओं और तत्वों के होते हुए उपयुक्त तत्वों में सर्वाधिक उत्कृष्ट रूप में कथानक का विन्यास हो; उसके अंतर्गत महत्वपूर्ण घटनाओं का रोचक एवं रमणीय वर्णन हो, वे महाकाव्य कथा-प्रधान कहे जा सकते हैं। अन्य तत्व भी इन में महाकाव्योचित रूप में रहना आवश्यक है। जैसे—महाभारत पृथ्वीराज राज आदि।'

२—चरित्र-प्रधान-महाकाव्यो—'जिन महाकाव्य में अन्य महाकाव्योचित तत्वों और विशेषताओं का समावेश होते हुए भी सर्वाधिक उत्कृष्टता

चरित्र-चित्रण को हो और किसी महान व्यक्ति के चरित्र का मार्मिक विश्लेषण उसमें मिलता हो, वे चरित्र प्रधान महाकाव्य हैं। जैसे—रामायण, रघुवंश नैषधचरित्र, राम चरित मानस, और साकेत आदि।'

३—भाव प्रधान महाकाव्य—'भाव प्रधान महाकाव्यों में अन्य महान विशेषताओं के होते हुए भी सर्वोत्कृष्ट रूप भाव या वैचारिक संदेश का रहना है ऐसे महाकाव्यों को पढ़कर हम कथानक या चरित्र से चाहे अधिक प्रभावित न हों, परन्तु हम भावातिरेक प्राप्त करते हैं और हमें जीवन दर्शन और कर्तव्य प्रेरणा के लिए उन्मेष मिलता है। हमारा ज्ञान और अनुभव सुदृढ़ होता है। इस प्रकार के काव्यों में हम सूरसागर और कामायनी—जैसे ग्रन्थों को रख सकते हैं।' हमारे विचार से वैचारिक संदेश को प्रधानता 'कुरुक्षेत्र' और 'प्रिय-प्रवास' में भी है, अतः उन्हें भी इसी कोटि में रखा जा सकता है।

४. अलंकृति प्रधान महाकाव्य—'महाकाव्य की शैली भी उसका महान् तत्व है ऐसी दशा में अन्य महाकाव्योचित विशेषताओं के होते हुए भी जिसके सर्वोत्कृष्ट प्रभाव डालने वाला तत्व उसकी शैली या उसकी अभिव्यंजना पद्धति हो इसे हम अलंकृति प्रधान महाकाव्य कह सकते हैं। इस प्रकार के काव्यों में उल्लेखनीय है—किरातार्जुनीय, शिशुपाल बध रामचन्द्रिका आदि। इसमें प्रतीकात्मक और रूपकोक्ति गर्भित काव्य भी लिए जा सकते हैं, यदि इनमें महाकाव्योचित गौरव वाले अन्य तत्व विद्यमान हों।

प्रश्न २५—खन्डकाव्य से क्या अभिप्राय है? महाकाव्य और खन्डकाव्य में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—खन्डकाव्य को 'खन्ड-प्रबन्ध' भी कहते हैं। यह प्रबन्ध काव्य का द्वितीय रूप या, दूसरा भेद है। खन्डकाव्य की चर्चा अधिक विस्तार से नहीं की गयी है। आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य-दर्पण में खंडकाव्य की जो परिभाषा की है। वह यह है—खंडकाव्य भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च।

अर्थात् 'काव्य के एक देश, एक अंश का अनुसरण करने वाला काव्य खण्डकाव्य है।' अंश से अभिप्राय आजकल घटना से लिया जाता है। जैसे, 'मेघदूत' एक ही खण्डकाव्य है।

महाकाव्य और खण्डकाव्य का अन्तर स्पष्ट करते हुए बाबू गुलाब-राय जी कहते हैं।

"खण्डकाव्य में प्रबन्ध काव्य का-सा तारतम्य तो रहता है, किन्तु महाकाव्य की अपेक्षा उसका क्षेत्र सीमित होता है। उसमें जीवन की एक रूपता नहीं रहती, जो कि महाकाव्य में होती है। उसमें कहानी और एकांकी की भाँति घटना के लिए सामग्री जुटायी जाती है।

उक्त कथन से एक ओर तो महाकाव्य और खण्डकाव्य का अन्तर स्पष्ट हो जाता है, दूसरी ओर इससे खण्डकाव्य की स्पष्ट धारणा भी हो जाती है।

इसी तथ्य की ओर लक्ष्य करके खण्डकाव्य के विषय में डा. भगीरथ मिश्र लिखते हैं—

'इसमें प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें कथावस्तु संपूर्ण न होकर उसका एक अंश ही होती है। प्रायः जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना या दृश्य का मार्मिक उद्घाटन होता है और अन्य प्रसंग संक्षेप में रहते हैं।

खन्डकाव्य को अधिक स्पष्ट करते हुए डा० भगीरथ मिश्र ने इस प्रकार अंकित किया है—

'इसमें भी कथा-संगठन आवश्यक है, सर्गबद्धता नहीं। इसमें भी वस्तु वर्णन, भाव वर्णन, और चरित्र-चित्रण किया जाता है, पर कथा विस्तृत नहीं होती। जैसे-पार्वती मंगल, जयद्रथ-वध पंचवटी आदि।'

इससे खन्ड काव्य और महाकाव्य का अन्तर भी स्पष्ट होता है।

खन्डकाव्य के भेद—डा० भगीरथ मिश्र ने खन्डकाव्य के दो भेद काव्यनुशासन और काव्यदर्श के आधार पर बताये हैं जो अधोलिखित हैं:-

१. एक संघात अथवा एकार्थ खन्ड काव्य–जिस काव्य में एक प्रकार के छन्द में ही एक घटना या दृश्य का वर्णन किया जा सकता है, उसे एक संघात या एकार्थ खन्ड काव्य की संज्ञा दी गयी है।

२. अनेकार्थ खन्डकाव्य–इसे बहुसंघात खन्डकाव्य भी कह सकते हैं. इसमें अनेक प्रकार के छन्दों में विविध भावों के साथ जीवन के एक अंश का चित्रण होता है। महाकाव्य के समान इसका विस्तार नहीं होता है जैसे-यशोधरा (मैथिलीशरण गुप्त जी कृत)।

अंग्रेजी या पाश्चात्य धारणा के अंतर्गत खंडकाव्य के लिए कोई अलग नाम नहीं मिलता अपितु वह भी प्रकथनात्मक काव्य (Narrative Poetry) के अन्तर्गत सम्मिलित है। हाँ, वहाँ इतना आवश्यक है कि महाकाव्य के छोटे-छोटे कथानक को एपीसोड (apisode) कहते हैं। उदाहरण स्वरूप अंग्रेजी में। सुहराब-रुस्तम की कथा जो फारसी के शहनामे से गृहीत है. प्रस्तुत की जा सकती है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय जान पड़ता है कि हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान आचार्य श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने कहा और खन्डकाव्य के मध्य की एक तीसरी विधा स्वीकार की है और उसे एकार्थ-काव्य कहा है जिसका उल्लेख बाबू गुलाबराय जी ने अपने काव्य के रूप के अन्तर्गत खन्डकाव्य के प्रकरण के विशेष शीर्षक के भीतर किया है।

बाबू गुलाबराय ने बताया है कि मिश्र जी 'प्रिय-प्रवास' 'साकेत' 'कामायनी' और वैदेही बनवास को एकार्थकाव्य की परिधि में ही रखते हैं। श्री मिश्र जी का कथन है—'महाकाव्य में कथा प्रवाह विविध भंगिमाओं के साथ मोड़ लेता हुआ आगे बढ़ता है किन्तु एकार्थकाव्य में कथा प्रवाह के मोड़ कम होते हैं।' बाबू गुलाबराय जी ने उनके इस कथन की टिप्पणी करते हुए अपना मत देते हैं कि 'कम और ज्यादह ये सापेक्ष शब्द हैं। 'कामायनी के कथा प्रवाह में काफी मोड़ और कथा-विस्तार है 'कामायनी' और साकेत में महाकाव्य के पाँचों तत्व सानुबन्ध कथा वस्तु-वर्णन

भाव व्यंजना तथा संवाद, नायक और नायिका की उदात्तता, उद्देश्य की महत्ता पर्याप्त मात्रा में मौजूद है। हाँ, 'साकेत' में भाव व्यंजना का कुछ आधिक्य है और रस संचार में 'साकेत' 'कामायनी' और 'वैदेही वनवास' अपना विशेष स्थान रखते हैं और उनको महाकाव्य का पद न देना इस युग के साथ अन्याय है।'

बाबू गुलाबराय जी का उक्त मत सर्वथा संगत प्रतीत होता है, उक्त कृतियों को उन्हीं की धारणा के अनुरूप कई विद्वान महाकाव्य मानते हैं, जो उचित ही है। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने एकार्थ-काव्य की संज्ञा संस्कृत के पूर्वोक्त ग्रंथों से ग्रहण तो की, किन्तु उसके विवेचन के युग का ध्यान नहीं रखा—ऐसा प्रतीत होता है।

प्रश्न २६—मुक्तक-काव्य की स्पष्ट विवेचना करते हुए उसके विविध अंगों का सम्यक् परिचय दीजिए।

उत्तर—मुक्तक काव्य को अनिबद्ध या निबंध काव्य भी कहा जाता है इन तीनों पर ध्यान दें तो ज्ञात होगा कि इस प्रकार का काव्य प्रबन्ध से सर्वथा भिन्न होता है। मुक्तक को स्पष्ट करते हुए बाबू गुलाबराय जी लिखते हैं—

'मुक्तक काव्य तारतम्य के बन्धन से मुक्त होने के कारण मुक्तेकेन मुक्तकम् मुक्तक कहलाता है और उसका पद स्वतः पूर्ण होता है।'

डा० भगीरथ मिश्र ने मुक्त को यों स्पष्ट किया है—

'निबंध काव्य वह है जिसके अंतर्गत रचना के विभिन्न छंदों में किसी प्रकार की किसी विचार या कथा की धारा अथवा श्रृंखला न पायी जावे और प्रत्येक छंद स्वतः पूर्ण और निरपेक्ष हों।'

मुक्तक रचना में भी क्रम दिया जा सकता है। इस संबंध में बाबू गुलाबरायजी का कथन है—मुक्तकों में भी क्रमन्यास हो सकता है, जैसा कि गोस्वामीजी की 'गीतावली' में वा सूर-सागर' के पदों में है, किन्तु उनके पद एक दूसरे की उपेक्षा नहीं रखते, वे स्वतः पूर्ण हैं।'

इस कथन का तात्पर्य भी यह है कि मुक्तक रचना में प्रत्येक छन्द या पद स्वतंत्र होता है, पूर्वापर संबंध की अपेक्षा नहीं होता है, अतः उनमें स्वतः पूर्णता होती है। दूसरी बात यह है कि तारतम्यता के अभाव में एक ही कथा या एक ही महापुरुष के जीवनवृत्त के आधार पर लिखित छंदों या पदों का विभिन्न दृष्टिकोणों से क्रम दिया जा सकता है। जैसे—'सूर-सागर' मे. कृष्ण की बाल्यावस्था के संबंध में लिखे गये पदो को उनकी अवस्था और परिस्थिति के अनुकूल क्रम दिया गया है। गीतावली में भी रामचंद्र के जीवनवृत्त के संबंध में बचपन से लेकर अंतिम वर्णन की स्थिति तक पदों को क्रमिक स्थान पर रखा गया है।

मुक्तक काव्य के वर्गीकरण के कई आधार हैं। पहला आधार है—छंद का। डा. भगीरथ मिश्र ने इसी को लक्ष्य करके लिखा है—इस प्रकार के प्रबंधहीन अनिबद्ध काव्य के अनेक भेद देखे जा सकते हैं, जिनमें ये प्रसिद्ध है—

'मुक्तक, युग्मक, सन्दानितक, कलापक, कुलक और करहाटक।'

मिश्र जी के भेद 'काव्यानुशासन' के आधार दिये हैं। आगे वे उनका संक्षिप्त परिचय भी इस प्रकार देते हैं—

१. मुक्तक—एक छद में अर्थ और चमत्कार प्रकट करने वाला अनिबद्ध काव्य मुक्तक कहलाता है। (यह अग्निपुराण की परिभाषा हो।)

२. युग्मक दो छन्दों में पूर्ण अर्थ देने वाला होता है।

३. सन्दानितक—तीन छन्दो में पूर्ण अर्थ देने वाला कहलाता है।

४. कलापक—चार छन्दों में पूर्ण अर्थ प्रकट करने वाला काव्य कलापक है।

५. कुलक—पाँच छन्दों में पूर्ण अर्थ व्यक्त करने वाला होता है।

६. करहाटक—छः छन्दों में पूर्ण अर्थ देने वाला करहाटक होता है।

उपर्युक्त प्रभेद 'साहित्य-दर्पण' के आधार पर दिये गये हैं। परन्तु अन्य विद्वानों का इन नामों से मतभेद भी मिलता है प्रसिद्ध विद्वान 'हेमचन्द्र' के अनुसार दो छन्दों वाला 'सदानितक' और तीन छंदों वाला

विशेषक अनिबद्ध काव्य है। कुछ अन्य लोग तीन छन्दों वाले अनिबद्ध काव्य को गुम्बवती चार छन्दों वाले को प्रचयक पाँच छन्दों के समूह को वाणावली और छः छन्दों वाले को करहाटक मानते हैं।

इसी परम्परा का ध्यान रखें. तो हिन्दी में हजारा. सतसई. शतक पचासा. पचीसी. दशक. अष्टक. पंचक आदि के रूप में मुक्तक ही काव्य देखे जा सकते हैं। किन्तु उनके प्रत्येक छन्द या पद को मुक्तक ही कहा जाता है। इसका अभिप्राय है कि मुक्तक काव्य के अन्य भेदों से नाम प्रचलित नहीं हुए और प्रत्येक मुक्तक रचना चाहे वह जितने छन्दों या पदों की ही मुक्तक ही कही जाने लगी है यद्यपि आज के कवि सम्मेलनों में जो मुक्तक सुनाते हैं या तो प्रकाशन में मुक्तक नाम छपते-छपाते हैं उन्हें साहित्य दर्पण के वास्तविक अर्थ में मुक्तक कहना और समझना उपयुक्त ही है पर अन्य प्रकार की फुटकर कविताएं या गीत या उनका समूह भी मुक्तक काव्य ही कहा जायेगा क्योंकि वे अनिबद्ध ही होते हैं।

मुक्त काव्य के अन्य भेद—पद्य काव्य के अंतर्गत छन्द की अनिवार्यता यदि स्वीकार करें तो हम देखते हैं कि इनमें कुछ तो संगीत के आधार पर गाये जा सकते हैं और कुछ केवल पढ़े जा सकते हैं। अत: इसी आधार पर अनिबद्ध पद काव्य के दो भेद हो जाते हैं।

(१) पाठ्य और (२, गेय ।

पाठ्य मुक्तक का विश्लेषण विशेष महत्वपूर्ण न होने से गेय मुक्तकों का ही अधिक विश्लेषण किया गया। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि प्राचीन काव्य शास्त्र में गेय काव्य के भेदों की चर्चा नहीं है, क्योंकि वहाँ इस प्रकार की रचना और भेद स्थिति की बात नहीं थी; किन्तु आधुनिक युग की भाषाओं और बोलियों के भीतर गेय मुक्तकों का बाहुल्य है अतएव आधुनिक दृष्टि से गेय काव्य के भेद किये गये हैं जो मुख्यतः दो हैं—

(१) कलागीत और (२) लोकगीत ।

कलागीत—डा० [illegible] मिश्र के शब्दों में, 'अलंकृत, परिष्कृत शैली पर लिखे गये गीत हैं इनमें भावों या विचारों की सजावट का प्रयत्न रहता है उन्हीं के अनुसार—

लोकगीत—'सहज, स्वाभाविक ढंग से निकले हुए लोकोद्गार जो हमारे सामाजिक जीवन के विविध संस्कारों और क्रिया-व्यापारों, उत्सवों त्योहार, ऋतुओं आदि के अवसर पर गाये जाते हैं, लोक-गीत हैं।' इनके लेखक सुशिक्षित साहित्यकार या कलाकार नहीं होते, वरन् अज्ञात कवि हैं, जिनमें एकाध का नाम ही जाना जा सकता है, किन्तु यह बात परम्परा से प्राप्त लोक गीतकारों के लिए है, आजकल सुशिक्षित कवि भी लोकगीत लिख रहे हैं, जिनका प्रचार नगर व ग्राम में—सर्वत्र है।

लोकगीतों की विशेषता डा० मिश्र के शब्दों में यह है—'हमारे सहज संस्कारों और अनुभूतियों को ये स्पर्श करने की शक्ति रखते हैं और इनमें संस्कृति, उल्लास, आशाएं, विषाद, क्षोभ, जीवन की निराशा, करुणा आदि व्यक्त रहती है। ये काव्य के सहज और प्राकृतिक रूप हैं—पुनः उक्त दोनों भेदों के दो-दो भेद किये हैं—

[१] भाव प्रधान [गीति] और [२] वर्णन-प्रधान (गान)

[२] वर्णन-प्रधान—गीतों में किसी वस्तु, तथ्य या घटना का वर्णन गीत रूप में होता है, जैसे आल्हा।

[२] भाव-प्रधान—गीतों को गीति, गीति काव्य और अंग्रेजी में 'Lyrics' कहा गया है। आधुनिक साहित्य मे इस रूप का बहुत अधिक विकास हुआ है।

भाव-प्रधान गीति काव्य की विशेषताएं अधोलिखित हैं :—

१. गीति काव्य गाये जाने योग्य होना चाहिए।
२. इसमें स्वानुभूति का प्रकाशन होना चाहिए।
३. इसमें सुकुमार भावो की घनीभूत तीव्र अभिव्यक्ति होनी चाहिए।
४. एक पद में एक ही भाव की विवृत्ति होनी चाहिए।

वस्तुत: गीति काव्य में अनुभूति ही प्रधान होता है, इसलिए इसे 'अनुभूति प्रधान काव्य भी कहते हैं। इसके अंतर्गत सामान्य वर्णन किसी घटना, तथ्य या भाव का नहीं, अपितु कवि की अनुभूति के माध्यम से प्रकट होता है। इसी कारण इसका प्रभाव तीव्र होता है, इसमें कवि की आत्मा और भावनाएं मुखर हो उठती हैं—उनका चिचित्र स्वरूप प्रत्यक्ष होता है। अतएव 'स्वानुभूति' को ही गीति काव्य का प्रधान तत्व माना गया है। स्वानुभूति की अभिव्यक्ति के निमित्त गीति ही सर्वोत्तम साधन है काव्य का यह सहज नैसर्गिक और मनोरम रूप है। यही कारण है कि पाश्चात्य प्रसिद्ध विचारक 'हीगेल' ने इसे काव्य का प्राकृत रूप कहा है।

नगर में प्रचलित अथवा लेखबद्धगीतों के अलावा मौखिक परम्परा प्राप्त लोकगीतों मे भी अनुभूति प्रधान होती है। भावुक मर्मस्पर्शिता के कारण लोककाव्य मे लोक गीतों का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। (लोक-काव्य का अभिप्राय लोक साहित्य से है।) वस्तुत: लोक गीत हमारी संस्कृति धरोहर या पूँजी के रूप में है। इनके विविध रूपों की गणना अभी तक नहीं की जा सकी है और न समग्रता की दृष्टि से संकलन ही। कुछ क्षेत्रीय फुटकर और अधूरे संकलन अवश्य हैं पर उसके बाद भी गाँवो मे अनेक रूप हैं और अगणित संख्या है।

लोकगीतों का उपयोग—अवसर की दृष्टि से विद्वानों ने वर्गीकृत किया है, जो अधोलिखित है—

१. संस्कार गीत, २. उत्सव-त्योहार गीत, ३. ऋतुगीत,

४. धार्मिक गीत, ५. दिनचर्या गीत और, ६. विविध।

डा० भगीरथ मिश्र ने लोकगीतों की विशेषता इन शब्दों में व्यक्त की है—'इन गीतों मे उल्लास-विषाद, आशा-निराशा, विवशता-आकांक्षा चिंता-मस्ती आदि भावनाओं को व्यक्त करने वाले सहज उद्गार हैं। इनमें हमारी संस्कृति, सामाजिक दशा, सामाजिक इतिहास और जीवन के सजीव चित्र मुग्धकारी रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।'

प्रश्न २७—प्रबन्धकाव्य एवं मुक्तक के पारस्परिक संबंध और अन्तर पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न २५, २६ के दोनों उत्तरों से उक्त प्रश्न का समुचित और सम्यक् उत्तर प्रस्तुत कर सकते हैं। अनावश्यक पिष्ट-प्रेषण से बचने के लिए इस संकेत करके अगले अध्याय की ओर बढ़ रहे हैं।

प्रश्न २८—उपन्यास की विविध परिभाषाएं देते हुए उपन्यास और कहानी में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

हिंदी उपन्यास आधुनिक युग की देन है। युग की गतिशील पृष्ठ भूमि पर सहज शैली में स्वाभाविक जीवन की एक पूर्ण व्यापक झांकी प्रस्तुत करने वाला गद्यकाव्य उपन्यास कहलाता है। नाटक महाकाव्य और उपन्यास जीवन को परिस्थितियों एवं चिंताओं से मुक्त जीवन को सम्पूर्ण रूप में अभिव्यक्त करते हैं, परन्तु इन गीतों में सूकर और प्राकृतिक रूप उपन्यास का ही है। इनमें लेखक स्वछंद होकर अपने हृदय पर पड़े जीवन के जीते-जागते चित्रों को प्रस्तुत करता है। उपन्यास कथा साहित्य का सरल, स्वाभाविक रूप है। इसी कारण आजकल इसका अत्यधिक विकास हो रहा है।

परिभाषा—यहाँ हम विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गयी परिभाषायें प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१) उपन्यास सम्राट प्रेमचंद ने उपन्यास की परिभाषा देते हुए लिखा है—

"मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्रमात्र समझता हूं। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल-तत्व है।" प्रेमचन्द जी अपनी परिभाषा में उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र कहते हैं।

(२) डॉ० श्यामसुन्दर दास की दी हुई उपन्यास की परिभाषा इस प्रकार है—

'उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।'

(३) बाबू गुलाबराय ने उपन्यास की परिभाषा देते हुए लिखा है- उपन्यास कार्यकारण श्रृंखला में बंधा हुआ वह गद्य कथानक है। जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचेदिगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से संबंधित वास्तविक या काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है।

(४) यूरोपीय विद्वान राल्स फाक्स ने लिखा है—

The Novel is not merely fictional prose, it is the prose of main life, first art to attempt to take wholeman and give him expression.'

New English Dictionary की उपन्यास की परिभाषा इस प्रकार है :—

"A Fiction Prose tale or narrative of Considerable lenth' in which chatacters and actious paofessinga the represeht those of real life are portrayed in a plot.'

अर्थात् (उपन्यास) एक लम्बे आकार की काल्पनिक कथा प्रकथन है जिसके द्वारा एक कार्यकारण श्रृखला में बंधे हुये कथानक में वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों और कार्यों का चित्रण किया गया है।

'A Treatise on the Novel के लेखक robert riddell ने उपन्यास को नया साहित्यांग माना है।

"The Novel as a literary from has Still a flavour of rnewnes.

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि उपन्यास मानव-जीवन का उसके रूप में चित्रण प्रस्तुत करने वाला, आधुनिक युग में सबसे सशक्त साहित्य का माध्यम है मनुष्य के जीवन की झांकी और उसके चरित्र

की विभिन्न परिस्थितियों में प्रतिक्रियात्मक सम्भावनाओं का जितना सुन्दर और सफल उद्घाटन इस साहित्यांग के माध्यम द्वारा किया जा सकता है, उतना अन्य साहित्यांग द्वारा नहीं। इसके अतिरिक्त आधुनिक युग के जीवन और संस्कृतिक के विविध क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व की दृष्टि से भी उपन्यास एक महत्वपूर्ण साधन है।

उपन्यास और कहानी में अन्तर—(भेद) स्पष्ट करने से पहले हमें इस विषय पर बता देना असंगत न होगा कि कहानी की परिभाषा देना उतना ही कठिन है जितना कि 'बिहारी' की नायिका की तस्वीर खींचना जो चतुर चितेरों को भी क्रूर बना देती है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार जी. एच. वेल्स कहानी की वह कथा कहा है जो एक घण्टे में पढ़ी जा सके-

"Fiction that can be read is an hour",

उपन्यास और कहानी में विषय की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है। ये सामान्य रूप में कथा साहित्य की दो भिन्न शैलियाँ हैं। इन दोनों साहित्यांगो के मूल तत्वों में भी कोई विशेष अन्तर नहीं।

वास्तव में, कहानी और उपन्यास में सबसे बड़ा अन्तर इनके रूप तथा आकार है रूप तथा आकार की दृष्टि से ही हम यहाँ कहानी और उपन्यास में अन्तर कर रहे हैं—

उपन्यास	कहानी
(१) उपन्यास सम्पूर्ण जीवन का व्यापक चित्र उपस्थित करता है।	(१) कहानी जीवन की एक झलक मात्र प्रस्तुत करती है।
(२) उपन्यासकार के लिए शैली विवरणपूर्ण विशद और व्याख्यापूर्ण होनी चाहिए।	(२) कहानीकार के लिए शैली संक्षिप्त, और सांकेतात्मक आवश्यक है।
(३) उपन्यास सारी परिस्थिति और गतिशील जीवन की विवृत्ति करता है।	(३) कहानीकार एक भाव या प्रभाव विशेष का चित्रण करता है।

उपन्यास	कहानी
(४) उपन्यासों में कथाओं का संगठन आधारित कथा की एकरसता को दूर करने तथा वर्णन में अनेकतत्व लाने के लिए आवश्यक होता है।	(४) कहानी में प्रासंगिक कथाओं का अवसर नहीं होता।
(५) उपन्यास में सूक्ष्म कला की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी व्यापक दृष्टिकोण तथा भावसरस, और परिस्थिति के सम्पूर्ण रूप में चित्रण की।	(५) कहानी के थोड़े समय में ही सम्पूर्ण महत्वपूर्ण बात कहानी होती है। अतः कला की सूक्ष्मता इसमें आवश्यक होती है। कहानी कलात्मक अधिक होती है। वह एक भाव-विशेष का ही चित्रण करने का प्रत्यन करती है।
(६) उपन्यास में मनोरंजन अधिक रहता है।	(६) कहानी में मनोरंजन बहुत थोड़े रूप में ही सम्पादित होता है।
(७) उपन्यास का क्षेत्र और विषय विस्तृत होता है।	(७) कहानी का क्षेत्र एवं विषय संकुचित रहता है।

प्रश्न २६—उपन्यास के प्रमुख तत्व कौन-कौन से हैं? उन पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

(१) बाबू गुलाबराय ने उपन्यास के सात तत्व माने हैं—

१—कथावस्तु, २—पात्र और चरित्र चित्रण, ३—वार्तालाप या कथोपकथन, ४—वातावरण, ५—विचार और उद्देश्य, ६—रस और भाव, ७—शैली।

लेकिन, अन्य विद्वान उपन्यास के छः ही तत्व मानते हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) कथानक, (२) पात्र, (३) कथोपकथन, (४) देश काल, (५) उद्देश्य और (६) शैली।

अब हम प्रत्येक तत्व का संक्षिप्त विवेचन कर रहे हैं।

(१) कथानक—कथानक उपन्यास का मूल तत्व है, जिसका महत्व उसके अन्य तत्वों से अधिक हैं। कथानक ही एक ऐसी वस्तु होती है, जिस पर उपन्यास का भव्य भवन खड़ा होता है। इसी कारण कुछ विद्वान उसे उपन्यास का ढाँचा मानते हैं। उपन्यास में अन्य तत्व अप्रधान रूप में कार्य करते हैं। उपन्यास की रचना कथानक की प्रधानता के कारण होती है। कुछ आलोचक कथानक की घटनाओं का लेखा भी मानते हैं।

कथानक के कई गुण होते हैं। जैसे सम्बद्धता, मौलिकता, निर्माण; कौशल, सत्यता, रोचक आदि। उपन्यास में कथानक का महत्व और विशेषताएं अन्य तत्वों की अपेक्षा अधिक हैं, क्योंकि इसमें मानव-जीवन के विविध पक्षों से सम्बन्धित, जीवन की विविध अवस्थाओं का चित्रण एवं अनुभूतियों की तीव्र अभिव्यक्ति की जाती हैं।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि कथानक उपन्यास के सभी तत्वों में सर्वप्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

(२) पात्र या चरित्र-चित्रण—कथानक के बाद चरित्र-चित्रण को उपन्यास का दूसरा प्रधान तत्व माना जाता है। उपन्यास के पात्रों की संख्या बहुत लम्बी होती है। सचमुच में उपन्यास का विषय मनुष्य और उसका जीवन है। सभी चमत्कार व्यक्तित्व के साथ होते हैं, पर उपन्यास की घटनाओं में घुले मिले हुए होते हैं। उनका चरित्र स्पष्ट हो जाता है। वे सजीव होते हैं। उनमें क्रिया-कलापों की बहुलता होती है। वे मनुष्य और उसके जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्र में सुख और दुःख की भावनाओं के अंतर्गत प्रवेश करते हैं। पात्र साहसिक कार्य करते हैं। वे ही उपन्यास को मनोरंजक बनाते हैं।

चरित्र-चित्रण को डा० गुलाबराय ने अन्य गुणों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण माना है।

पात्र दो तरह के होते हैं।—(१) फ्लैट (२) राउण्ड।

'फ्लैट' से तात्पर्य है वह एक ही विचार या विशेषता के चारों ओर उसी को केन्द्र मानकर घूमता रहता है। 'राउण्ड' उसे कहते हैं जिसमें केन्द्रगत विचार या विशेषता एक से अधिक हो जाती है।

उपर्युक्त गुणों एवं प्रकारों के अतिरिक्त पात्रों के चरित्र-चित्रण में कलात्मकता, धनात्मकता तथा बौद्धिकता आदि विशेषताएं भी पायी जाती है।

(३) कथोपकथन—यह उपन्यास का तीसरा तत्व कथा का विकास करता हुआ पात्रों के चरित्र-चित्रण में सहायक होता है। कथोपकथन दो प्रकार का होता है—(१) अभिनयात्मक और (२) विश्लेषणात्मक।

अभिनयात्मक में पात्र स्वयं बोलते हैं, उनका परिचय कोई नहीं कराता; जैसे श्याम ने कहा, 'मुझे बहुत पढ़ना है।' पर, विश्लेषणात्मक में केवल वार्ता होती है। प्रसंगानुकूल पाठक जान पाता है कि बोलने वाला कौन है। उपन्यास में अभिनयात्मकता की अपेक्षा विश्लेषणात्मकता का क्षेत्र अधिक होता है। साथ ही साथ उपन्यास में अभिनयात्मकता का भी होना अनिवार्य है, क्योंकि कथोपकथन में इसी के द्वारा सजीवता लायी जा सकती है और चरित्र-चित्रण को सफल बनाया जा सकता है। कथोपकथन के द्वारा ही उपन्यास में कौतूहल पैदा किया जाता है। यह ही एक परिच्छेद को दूसरे परिच्छेद से जोड़ता है।

(४) देशकाल—उपन्यास के तत्वों में देश और काल का विवेचन करते हुए डा० श्यामसुन्दर दास ने लिखा है कि 'उपन्यास के देश और काल से हमारा तात्पर्य उसमें वर्णित आचार-विचार, रहन-सहन और परिस्थिति आदि से है।' डा० गुलाबराय ने लिखा है कि 'देश-काल के चित्रण में सदा इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि वह कथानक के स्पष्टीकरण का साधन ही रहे, स्वयं साध्य न बन जाय।' देश-काल वातावरण का बाहरी रूप है। देश-काल के प्राय: तीन प्रकार होते हैं—

[१] सामाजिक, [२] प्राकृतिक और [३] ऐतिहासिक।

प्रथम के अन्तर्गत बहुधा सामाजिक दशा का यथार्थ चित्रण किया जाता है। इसमें यह स्पष्ट किया जाता है कि किस काल में किस विशिष्ट समाज में कौन-कौन सी परिस्थितियां थीं। सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले सभी रीति-रिवाज, सामाजिक वर्ग, शिक्षा, संस्कृति वेश-भूषा, भाषा आदि के वर्णन इसके अन्तर्गत आते हैं।

द्वितीय के अंतर्गत उपन्यासकार अपनी कथा के पात्रों के सुख-दुख के साथ प्रकृति का समता-विषमता को बड़े ही नाटककीय ढंग से प्रस्तुत करता हैं। इससे घटना की प्रभावात्मकता में वृद्धि होती है और साथ ही साथ वातावरण की अनुकूलता भी सार्थक होती है।

तृतीय वर्ग की आवश्यकता प्रायः ऐतिहासिक उपन्यासों में होती है। ऐतिहासिक उपन्यासों में देश-काल के विषय में अत्यधिक सतर्क रहना पड़ता है इस दृष्टि से उसमें खास बात यह देखी जाती है कि कहीं काल-दोष न आने पाये तथा साथ ही साथ कोई वर्णन इतिहास विरुद्ध भी न हो जाय।

[५] शैली—शैली के माध्यम से उपन्यासकार अपनी कृति को अधिक आकर्षण और प्रभावशाली ढंग उपस्थित करता है। उपन्यासकार जिस तरह से अपने विचार और भावनाओं को व्यक्त करता है, उसी को शैली कहते हैं। कुछ विद्वान उपन्यास में शैली से अभिप्राय उसकी भाषा से मानते हैं। आधुनिक उपन्यासों की सरलता, रोचकता, प्रवाहपूर्णता बहुत कुछ उनकी शैली पर ही निर्भर करती है। सामान्यतः उपन्यास शैली पांच प्रकार की होती है :—(१) पात्रात्मक शैली (२) आत्मकथा शैली (३) वर्णनात्मक शैली (४) डायरी शैली (५) मिश्रित शैली आदि। देशकाल भी उपन्यास की वर्णन शैली द्वारा ही प्रस्तुत किया जाता है।

सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि शैली का अधिक महत्व इसलिए है कि इसी के द्वारा उपन्यासकार अपनी कृति में प्रभावात्मकता उत्पन्न करता है तथा उसे आकर्षक एवं रोचक बनाता है। शैली की

दृष्टि से आधुनिक उपन्यासों में अधिक नवीनता मिलती है। आधुनिक युग में उपन्यास साहित्य के समृद्ध और उन्नत होने का एकमात्र कारण यह भी हो सकता है कि शैली के क्षेत्र में उसने बहुत अधिक प्रगति की है।

(६) उद्देश्य—उपन्यास के उद्देश्य के विषय में भी लोगों ने काफी गम्भीर विवेचन किया है। कुछ लोग तो उसमें मनोरंजन ही आवश्यक मानते हैं। वे उसमें आदर्श और उपदेश नहीं चाहते, पर कुशल उपन्यासकार वही माने जाते हैं, जिनमें यथार्थ के साथ आदर्श का सम्बन्ध हो। जैसे प्रेमचन्द आदि।

उपन्यास के उद्देश्य पर विचार करते हुए डा० श्यामसुन्दर दास ने लिखा है—"उपन्यास में मुख्यता यही दिखलाया जाता है कि पुरुषों और स्त्रियों के विचार भाव और पारस्परिक संबंध कैसे हैं, वे किन-किन कारणो अथवा प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर कैसे-कैसे कार्य करते हैं; अपने प्रयत्नों मे वे किस प्रकार सफल अथवा विफल होते हैं; और इन सबके फलस्वरूप उनमें कैसे-कैसे मनोविकार आदि उत्पन्न होते हैं। उपन्यास लेखक का जीवन के किसी एक अथवा अनेक अंगों के साथ बहुत ही घनिष्ठ संबंध होता है; इसीलिए किसी-न-किसी रूप में यह प्रकट करना उसका कर्तव्य हो जाता है कि जीवन के साधारण और असाधारण सभी व्यापारों का उस पर क्या और कैसा प्रभाव पड़ा है। कुछ विशेष सिद्धांतों अथवा विचार के प्रतिपादन के उद्देश्य से तो बहुत कम उपन्यास लिखे जाते हैं पर सभी उपन्यासों में कुछ न कुछ विशेष विचार अथवा सिद्धांत आपसे आप आ जाते हैं।'

अंत में, इस सम्बंध में इस तथ्य की ओर भी हमें देखना चाहिए कि उपन्यास-साहित्य के वर्तमान विकास ने इन तत्वों की परम्परा को बहुत कुछ निरर्थक कर दिया है। अब न तो कथानक में व्यवस्था और शृंखला का पहले का सा मान रहा और न चरित्र-चित्रण में संगति और संबद्धता का आग्रह है।

प्रश्न ३०—कहानी की परिभाषा देते हुए उसके प्रधान तत्वों पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

कहानी की परिभाषा को सुनने वाले तो अधिक हैं किंतु उसकी कठिनाई के कारण बोलने वाले कम हैं। जो चीज दिन-प्रतिदिन रूप बदलती है, विकसित होती है, उसकी परिभाषा देना कठिन है। इसी कारण कुछ अनुभवी आलोचकों ने परेशान होकर, 'संक्षिप्तता को उसका प्रमुख लक्षण माना है।'

(१) यूरोपीय विद्वान एच० जी० वेल्स ने कहानी को कथा कहा है 'जो एक घण्टे में पढ़ी जा सके।' हास्य की तरह संक्षिप्तता ही इसकी जान बतलायी गयी है।

(२) सर ह्यूवाल पो की परिभाषा बड़ी महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार 'कहानी-कहानी होनी चाहिए, अर्थात् उसमें घटित होने वाली वस्तुओं का लेखा-जोखा होना चाहिए, घटना और आकस्मिकता से पूर्ण हो उसमें क्षिप्रगति के साथ अप्रत्याशित विकास हो, जो कौतूहल द्वारा चरम-बिंदु और संतोष-जनक अंत तक ले जाय।'

(३) श्यामसुन्दरदास जी ने अपनी परिभाषा में नाटकीय ढंग पर अधिक बल दिया है, किंतु निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को उन्होंने भी आवश्यक माना है, उनकी परिभाषा इस प्रकार है—

'आख्यायिका एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को लेकर नाटकीय आख्यान है।'

(४) बाबू गुलाबराय ने अपनी परिभाषा इस प्रकार दी है—कहानी एक स्वतःपूर्ण रचना है, जिसमें एक लक्ष्य या प्रभाव को अग्रसर करने वाली व्यक्ति केन्द्रित-घटना या घटनाओं के आवश्यक, परन्तु कुछ-कुछ अप्रत्याशित ढंग से—उत्थान—पतन और मोड़ के साथ पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने वाला कौतूहलपूर्ण वर्णन हो।'

कहानी की विविध परिभाषाएं प्रस्तुत करने के बाद अब हम कहानी के प्रधान तत्वों पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

कहानी के छः तत्व हैं—

(१) कथावस्तु (२) पात्र (३) कथोपकथन (४) वातावरण (५) शैली और (६) उद्देश्य।

१. कथावस्तु—कहानी की कथावस्तु संक्षिप्त होती है, उसमें जीवन के एक अंग पर प्रकाश डाला जाता है। कहानीकार जीवन में घटित किसी एक घटना पर ही एक कहानी बना डालता है। कथावस्तु का रचना-क्रम भी निराला होता है। कहानीकार बिना किसी भूमिका के कहानी कहने लगता है, फिर भी उसकी पहली पंक्ति इतनी आकर्षक होती है कि पाठक को उसी में मग्न कर देती है पाठक देखते ही पढ़ने का इच्छुक हो जाता है। जैसे 'उसने कहा था,' 'आकाश-दीप,' 'ताई' आदि कई ऐसे शीर्षक हैं, जिनमें भूमिका की कोई आवश्यकता नहीं है। कहानी की कथावस्तु नदी की धारा के प्रवाह की तरह आगे बढ़ती है और साथ में अनावश्यक शब्द न रखती हुई अपने लक्ष्य की ओर जाती है। कहानी में रागात्मकता का होना आवश्यक है जिसके कारण वह संवेदनशील बन सके। कहानी सदैव बुद्धि-पक्ष हृदयपक्ष को साथ लिए हुए रहता है। संवेदना प्राप्त करने के लिए कहानीकार जीवन के प्रतिदिन की समस्याओं को व्यक्त करता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कहानी की कथा वस्तु की जान है। इसमें उपन्यास और नाटक के कथानक की भाँति उतार नहीं होता।

२. पात्र—कहानी में पात्रों की संख्या न्यूनातिन्यून होती है। प्रत्येक पात्र अपना सांकेतिक व्यक्तित्व ही उपस्थित करते हैं। वे घटनाओं से बंधे रहते हैं। पात्र घटनाओं की अभिव्यक्ति के साधन-मात्र होते हैं। कहानी में उपन्यास या नाटक की भाँति पात्रों का चरित्र चित्रण नहीं होता, अपितु उनका रेखांकन-मात्र ही होता है; परन्तु पात्र बड़े प्रभाव शाली होते हैं। पात्र, कहानी के रंगमंच पर भी पूरा अभिनय नहीं करते, बल्कि घटनाओं की चर्चा करके आगे बढ़ते हैं। कहानी के पात्र वैसे होते हैं, जैसे—जीवन के अनुभव में दिखाई पड़ते हैं।

३. कथोपकथन—कहानी का कथोपकथन बड़ा ही व्यंग्यपूर्ण होता है कथोपकथन ही कहानी में कौतूहल लाता है और पात्रों के हृदयगत भावों को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। कहानीकार परिस्थिति की तीव्रता कथोपकथन के माध्यम से उपस्थित करता है। कहानी का कथोपकथन सजीव, संगत और चमत्कारपूर्ण होना चाहिए।

४. वातावरण—कहानी में उपन्यास की तरह वातावरण के चित्रण की आवश्यकता नहीं होती, फिर भी कहानी में देशकाल को स्पष्ट करने के लिए तथा कार्य से परिस्थिति की अनुकूलता व्यंजित करने के लिए उसका चित्रण आवश्यक हो जाता है।

वातावरण दो प्रकार का होता है—(१) भौतिक और (२) मानसिक। वातावरण के चित्रण में प्रसाद जी ने विशेषता प्राप्त की है। 'पुरस्कार' कहानी के प्रारम्भ के दृश्य में जनता और प्रकृति की मानसिक स्थिति में बहुत साम्य दिखाई पड़ता है।

५. उद्देश्य—प्रत्येक कहानी का एक निश्चित उद्देश्य अवश्य होता है। कहानी का ध्येय मनोरंजन या लम्बी बातों को काटकर छोटा करना नहीं है वरन् जीवन सम्बन्धी कुछ तथ्यों का उद्घाटन कर मानव-मन का निकट से परिचय कराना है, परन्तु वह उपदेश अन्य कहानियों, जैसे 'हितोपदेश आदि की तरह प्रकट करना नहीं। कहानी का उद्देश्य कहीं पर स्पष्ट रूप में व्यंजित होता है और कहीं पर गूढ़ रूप मे। कहानी के उद्देश्य में जीवन के एक दृष्टिकोण का परिचय मिल जाता है। कुछ कहानी लेखक 'संघर्ष को कुछ' कहानी लेखक 'समझौते को पसंद करते हैं। कुछ कहानीकार उद्देश्य को अधिक महत्व देते हैं, और कुछ कहानीकार सिर्फ जीवन के विश्लेषण और मन की अंधतम गुफाओं में प्रकाश की रेखा पहुंचाने को। मनुष्य को समझा देना ही उनका मुख्य उद्देश्य होता है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि कहानी का उद्देश्य व्यंजनात्मक होता है।

६. शैली—कहानी में शैली का सम्बन्ध किसी एक तत्व से नहीं,

बल्कि सब तत्वों से है। शैली की अच्छाई या बुराई का प्रभाव सम्पूर्ण कहानी पर पड़ता है। कला का प्रेषणीयत्व शैली पर निर्भर करता है। किसी बात के कहने या लिखने-पढ़ने के विशेष प्रकार को शैली कहते हैं। इसका सम्बंध सिर्फ शब्दों से नहीं है, बल्कि विचार और भाव से है, शैली के कुछ गुण जैसे तार्किक-क्रम, संगति आदि तो विचार से सम्बन्ध रखते हैं; और कुछ भाषा से। मेरे विचार से वे ही कहानीकार श्रेष्ठ हैं; जो शैली से वातावरण को उपस्थित कर दें। जैसे—'उसने कहा था' भाषा-शैली के बल से कहानीकार अमृतसर के बाजार का साक्षात् चित्र उपस्थित करता है। कहानी में अधिक वर्णन नहीं होता; क्योंकि अधिक वर्णन से कहानी की कला-समाप्त हो जाती है या बिगड़ जाती है। अतः कहानी कार कम से कम वर्णन द्वारा अपने लक्ष्य की पूर्ति करता है।

प्रत्येक लेखक की शैली अलग होती है, किंतु मोटे रूप में दो प्रकार की शैलियाँ हैं—

एक चलती हुई मुहावरेदार भाषा की, जिसके प्रतिनिधि लेखक हैं—मुंशी प्रेमचन्द।

दूसरी अलंकृत संस्कृत-प्रधान शैली, जिसके उदाहरण हमको 'चण्डी प्रसाद' तथा 'हृदयेश' तथा 'प्रसाद जी' की कहानियों में मिलते हैं।

अन्य लेखकों की कहानियों को भी इन्हीं आधारों पर हम वर्गीकृत कर सकते हैं।

प्रश्न ३१—कहानी और रेखाचित्र में अन्तर स्पष्ट कीजिये।

रेखाचित्र कहानी से अधिक निकट होते हुए भी उससे भिन्न है। रेखाचित्र और कहानी में कोई अत्याधिक अन्तर करना कठिन है, फिर भी दोनों में अन्तर अवश्य है, क्योंकि ये दोनों शब्द आज बराबर प्रचलित हैं और इनका प्रयोग करने वाले इनके द्वारा एक ही अर्थ की व्यंजना नहीं करते।

कहानी के सम्बंध किसी को तो कोई भ्रान्ति होने की गुंजाइश नहीं है, रेखाचित्र के विषय में कठिनाई है। रेखाचित्र, चित्रकला का शब्द है।

उसमें चित्रांकन का मूल आधार रेखाएं होती हैं। रेखाचित्र में मोटाई, चौड़ाई, अर्थात् मूर्त रूप रंग आदि नहीं होते। जब चित्रकला शब्द साहित्य में आया, तो इसकी परिभाषा भी इसके साथ आई।

रेखा-चित्र एक ऐसी रचना के लिए प्रयुक्त होने लगा, जिसमें रेखाएं हों, पर मुर्तरूप यथातथ्यों का उद्‌घाटन-मात्र हो। इसमें तथ्य खुलते जाते हैं। कहानी में घटना का होना आवश्यक नहीं है पर रेखाचित्र के लिए इसका होना जरूरी है। कहानी के लिए विश्लेषण कैसा भी अवांछनीय नहीं है, परन्तु यह रेखाचित्र का वह प्रायः अनिवार्य साधन है। कहानी में वर्णन के साथ कुछ प्रबन्धात्मक कथन (Narration) भी रहता है। रेखा-चित्र में वर्णन का प्रधान्य रहता है, कहानी में एक विशेष गति रहती है उसमें काल-क्रम का विकास रहता है, अर्थात् वह चलता हुआ दिखाई देता है। रेखा-चित्र में इस बात का अभाव रहता है। कहानी में जितना काल-क्रम घटता जाता है, उतनी ही वह रेखाचित्र के निकट आ जाती है।

रेखा-चित्र में दो 'डायमेनशंश होतें हैं—एक लेखक और उसके बीच एकात्मक विषय के बीच की सम्बन्ध-रेखा तथा दूसरी, इस सम्बद्ध रूप और पाठक के बीच की संयोजक रेखा। वास्तव में रेखा-चित्रण का विषय एकात्मक होता है, उसमें एक व्यक्ति या एक वस्तु की उद्दिष्ट रहती है। कहानी में एक 'डायमेन्शंन्' बढ़ जाता है। कहानी का विषय एकात्मक नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें द्वैत भाव का होना जरूरी है, अर्थात् एक व्यक्ति स्वयं कहानी नहीं बना सकता। उसका अपने आप में होना कहानी के लिए पर्याप्त नहीं है। उसको कहानी में या दूसरे दूसरों की अपेक्षा में कुछ कहना होगा, जैसे—प्रेम करना, वैर करना, सेवा करना, आदि। इस प्रकार स्पष्ट है कि कहानी का विषय एक बिन्दु न होकर वा अनेक बिन्दुओं की संयोजक रेखा है। यही एक अलग 'डाय मेन्शन्' है जो कहानी में बढ़ जाता है। इसी रूप में हम चाहें तो उसे रेखा-चित्र की अपेक्षा रस अधिक होता है, क्योंकि द्वैत में निर्सवेह ही

अद्वैत की अपेक्षा अधिक होता है। रेखाचित्र में जिज्ञासा की अतृप्ति-मात्र रहती है। इसके विपरीत कहानी में उसकी परितृप्ति हो जाती है, क्योंकि जहाँ रेखा-चित्र में 'मैं' और 'तू' रहते हैं मैं अर्थात् मूलतः लेखक और 'तू' अर्थात् विषय, वहाँ कहानी में 'तू' और 'वह' का वृत्त पूरा हो जाता है।

प्रश्न ३२—विभिन्न मतों का उल्लेख करते हुए उपन्यास का विभिन्न आधारों पर वर्गीकरण कीजिए।

उपन्यास या वर्गीकरण अनेक विद्वानों ने कई प्रकार से किया है, जो निम्नलिखित है—

(१) डा० श्यामसुन्दर दास जी ने अपने 'साहित्यालोचन' में उपन्यासों का वर्गीकरण किया है—

(१) घटना-प्रधान उपन्यास,

(२) सामाजिक अथवा व्यवहारिक उपन्यास,

(३) अन्तरंग जीवन के उपन्यास और।

(४) देश-काल सापेक्ष और निरपेक्ष उपन्यास।

(२) डाक्टर प्रताप नारायण टण्डन ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी उपन्यास मे कथा शिल्प का विकास में उपन्यासों का कोटि-क्रम कथानक व पात्रों के आधार पर इस प्रकार निर्भर किया गया है :—

(क) घटना प्रधान उपन्यास और

(ख) चरित्र प्रधान उपन्यास।

(३) हेनरसी जेम्स के अनुसार उपन्यास केवल दो प्रकार के होते हैं—(१) अच्छे उपन्यास (वे जो सजीव होते हैं) (२) बुरे उपन्यास (वे जो निर्जीव होते हैं।)

(४) डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उपन्यासों का वर्गीकरण करते हुए लिखा है—'उपन्यास के इन छः तत्वों से में कभी-कभी एक या दो तत्व प्रधान हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, जिन उपन्यासों में पात्रों की प्रधानता होती है वे चरित्र प्रधान और जिसमें घटना की प्रधानता होती

है. उन्हें घटना प्रधान उपन्यास कहते हैं ।

(५) डा० शिव प्रसाद श्रीवास्तव ने उपन्यासों का वर्गीकरण करते समय कहा है—'उपन्यास वाङ्मय की वृद्धि के साथ ही साथ उपन्यासों के प्रकार में भी असाधारण वृद्धि हुई है। आज दिन तो उपन्यासों के अनेक विभेद किये जाते हैं। इनमें से तो किसी विशेष तत्व, यथा घटना, चरित्र आदि की प्रधानता के आधार पर किये जाते हैं और कुछ वर्ण्य-वस्तु के आधार पर। तत्वों की प्रधानता के आधार पर घटना प्रधान, चरित्र-प्रधान के विचार से धार्मिक, सामाजिक राजनैतिक, ऐतिहासिक, आर्थिक और प्राकृतिक आदि अनेक भेद किये जा सकते हैं।

उपर्युक्त विद्वानों के वर्गीकरण को ध्यान से रखते हुए सुविधा की दृष्टि से उपन्यास को निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है—

(१) तत्वों के आधार पर और

(२) वर्ण्य वस्तु विषय के आधार पर।

१. तत्वों के आधार पर—तत्वों की प्रधानता के आधार पर तीन मुख्य भेद किये जा सकते हैं—

(क) घटना-प्रधान उपन्यास—यह वर्गीकरण कथा के आधार पर किया जाता है। घटना-प्रधान उपन्यास में मानव व्यापारों एवं क्रिया-कलापों की प्रधानता रहती है। इस प्रकार के उपन्यासों में घटना की प्रधानता रहती है। जैसे—तिलस्मी उपन्यास।

(ख) चरित्र प्रधान उपन्यास—चरित्रों के आधार पर जिन उपन्यासों का वर्गीकरण किया जाता है, उन्हें चरित्र प्रधान कहा जाता है। इनमें पात्रों अथवा चरित्रों की प्रधानता रहती है। जैसे—जैनेंद्र जी के उपन्यास।

(ग) घटना-चरित्र प्रधान उपन्यास—घटना एवं चरित्र दोनों के आधार पर जिन उपन्यासों का वर्गीकरण किया जाता है, उन्हें घटना चरित्र प्रधान उपन्यास कहते हैं। जैसे—मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यास घटना चरित्र प्रधान हैं।

[२] वर्ण्य वस्तु के आधार पर—वर्ण्य विषय के आधार पर उपन्यासों के निम्नांकित भेद किये जा सकते हैं—

[१] धार्मिक उपन्यास—इस प्रकार के उपन्यासों में धार्मिक भावना का प्राधान्य रहता है।

[२] सामाजिक उपन्यास—उन्हें कहते हैं, जिनमें चरित्र-संबंधी और व्यवहार-सम्बन्धी आख्यान होते हैं, जो हमारी सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं।

[३] ऐतिहासिक उपन्यास—इस प्रकार के उपन्यासों में किसी ऐतिहासिक कथा या देश-काल का वर्णन किया जाता है।

[४] आर्थिक उपन्यास—इस प्रकार के उपन्यासों में आर्थिक समस्याओं का वर्णन किया जाता है।

[५] प्राकृतिक उपन्यास—प्रकृति के विविध व्यापारों की प्रधानता लिये रहते हैं।

इसी प्रकार से वर्ण्य वस्तु के विचार से अनेक भेद किये जा सकते हैं, जिनके विस्तार में जाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

उपर्युक्त वर्गीकरण सुविधा तथा स्पष्टता को ध्यान में रखकर ही किया गया है। यह वर्गीकरण अन्य विद्वानों द्वारा दिये गये वर्गीकरण से सरल और सुविधाजनक होगा।

प्रश्न ३३—उपन्यास की कथा-वस्तु का विश्लेषण करते हुए अच्छे कथानक के गुण बताइये।

उपन्यास के जितने भी आवश्यक तत्व हैं, उनमें कथावस्तु का नाम सबसे पहले आता है। यद्यपि आजकल तत्व को कम महत्व दिया जा रहा है, तथापि यह उपन्यास का मूल है, कारण कि उपन्यास कथा-साहित्य का ही एक अंग है, उसी में उसकी गणना होती है। डा० गुलाबराय जी कहते हैं कि 'यह (कथा-वस्तु) ही उपन्यास की भित्ति है, जिस पर मन चाहे रंग में चित्र अंकित किये जा सकते हैं। चित्रों की सुन्दरता में भित्ति का

विशेष प्रभाव पड़ता है। उपन्यासकार का बहुत कुछ कौशल उनके कथानक के चुनाव में है। यद्यपि वर्णन कौशल द्वारा साधारण कथानक में भी सुन्दरता लायी जा सकती है तथापि रचना की उत्तमता अधिकांश में सामग्री की उत्तमता पर निर्भर रहती है।

स्पष्ट है कि रचनाकार की सफलता एक ओर जहाँ उनके वर्णन की कुशलता पर निर्भरता होती है, वहाँ दूसरी ओर कथावस्तु का भी उससे कम महत्व कदापि नहीं। सामग्री उत्तम होने से कुशल कारीगर अधिक सुन्दर एवं उत्तम कोटि की कृति प्रस्तुत कर सकता है—इसमें कोई संदेह नहीं। उदाहरणार्थ, संगमरमर की जितनी सुन्दर मूर्ति निर्मित हो सकती है, उतनी सुन्दर मूर्ति खुरदरे कड़े पत्थर की नहीं हो सकती। गोस्वामी तुलसीदास की सफलता का बहुत कुछ श्रेय यदि उसके वर्णन-कौशल को है तो उनके चरित्र-नायक के चुनाव को उससे महत्वपूर्ण माना जा सकता है।

कथानक या कथावस्तु का चुनाव प्रत्यक्ष जीवन से किया जाता है। और इतिहास-पुराण आदि से भी लिया जाता है। गुलाबराय जी के शब्दों मे 'जीवन के लिए हुए कथानक में लेखक सहज में ही सजीवता ला सकता है। इतिहास के पात्रों में सजीवता लाने की अधिक कल्पना की आवश्यकता होती है।' आगे वे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"उपन्यास कथानक एवं घटनाओं का संकलन मात्र नहीं है, उनको कार्य-कारण शृंखला में बंधे हुए रूप में उपस्थिति करना होता है। जिससे कोई भी बुद्धिमान पुरुष उन घटनाओं के पारस्परिक संबंध का अध्ययन करसके। यही शृंखलाबद्धता कथा-वस्तु के अंग्रेजी नाम प्लॉट (Plot) को सार्थकता प्रदान करता है।

कथानक का विषय चुन लेने के उपरान्त उपन्यासकार का दूसरा कार्य होता है—उसका उचित विन्यास करना। विन्यास का तात्पर्य यह है कि कितना न लिखा जाय और कितना लिखा जाय फिर उसमें किस प्रकार क्रमलिखा जाय, किस प्रकार से कार्य-कारण की शृंखला स्थापित की जाय और किस प्रकार उसे पाठकों की रुचि के अनुकूल प्रस्तुत किया

जाय। यहाँ गुलाबराय जी के शब्दों का स्मरण करना पड़ेगा कि 'क्रम और कार्य कारण-शृंखला ही उपन्यास की वृत्ति का मूल है।' यही वह तथ्य है, जिसमें उपन्यास नानी की 'कहानी' से अलग हो जाता है।

उपन्यास के पाठकों के हृदय में कौतूहल-वृत्ति तो होती ही है, साथ में स्मृति और बुद्धि भी होती है। इसलिए वे पूर्वापर सम्बन्ध पर भी, ध्यान रखते हैं तथा उसकी युक्ति-संगति संभावना पर भी उनका ध्यान रखा जाता है। वे अपने भावों और एवं विचारों की पुष्टि के लिए मानसिक खाद्य प्राप्त करने के इच्छुक होते हैं और उनके साथ ही कथानक की रोचकता भी उनके लिए आपेक्षित होती है। इसी दृष्टि से उपन्यास के कथानक का विन्यास बहुत सावधानी से किया जाना चाहिये। दूसरे शब्दों में उसमें क्रम तथा कार्य-कारण शृंखला और रोचकता का विशेष ध्यान रखना सर्वथा आवश्यक है।

उक्त विवेचना को ध्यान में रखकर अच्छे कथानक के गुण नीचे लिखे रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

(१) मौकिलता, (२) कौशल, (३) सम्भवता, (४) सुसंगठितता और (५) रोचकता—ये पाँच गुण किसी भी अच्छे कथानक में वांछनीय हैं।

इनका क्रमशः वर्णन इस प्रकार से किया जा सकता है—

१. मौलिकता—उपन्यास के कथानक के लिए उपन्यासकार जो भी समस्या या विषय चुनता है, उसे प्रस्तुत करने के ढंग में उसकी मौलिकता का प्रश्न उठता है। उदाहरण के लिए प्रेम का विषय लिया जाय अधिकांश उपन्यासों में यह विषय विभिन्न ढंगों से दर्शाया गया है। कहीं एक प्रेमी किसी से प्रेम करता है, फिर उसमें बाधाएं आ जाती हैं, कहीं पर वे समाप्त कर दी जाती हैं, कहीं उन्हें इतना बढ़ा दिया जाता है कि प्रेमी प्रेमिका दोनों निराश हैं और निराश में कहीं-किसी की मृत्यु भी हो जाती है और कभी-कभी सन्यास समाज सेवा आदि का सहारा लेकर उस निराशा को भुला दिया जाता है। कहीं तो त्याग की भावना अधिक दिखायी जाती है और कहीं स्वार्थसाधन में चतुरता की विशेषता ऐसे ही किसी उपन्यास

में डाका, चोरी, हत्या आदि की खोज की जाती है, तो किसी में साहस पूर्ण कृत्यों का वर्णन होता है।

आजकल के विषय का क्षेत्र बहुत कुछ विस्तृत हो गया है और उसमें विचार तथा विश्लेषण का भी पर्याप्त मात्रा में समावेश हो गया है, फिर भी अधिकांश उपन्यासों में उपर्युक्त बातों में से कोई-न-कोई बात अवश्य होती है और इन बातों को प्रस्तुत करने के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। इन्हीं प्रकारों की भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। इन्हीं प्रकारों की भिन्नता में लेखक की मौलिकता है।

एक ही भाव को कई ढंग से दिखाया जा सकता है, जैसे त्याग-धन सम्पत्ति का, सिद्धांतों की महत्वाकांक्षाओं आदि का। ऐसी ही प्रेमियों का प्रथम दर्शन बचपनद के खेल में तीर्थ यात्रा में, ट्राम-मोटर-रेल में दुर्घटना से स्कूल-कालिज में, सभा समिति में भ्रमणस्थली में आदि-आदि। हाँ ये सब देश-काल का ध्यान रखकर ही होना चाहिए। अपने देश की सभ्यता-संस्कृति के अनुकूल ही उक्त बातें दिखाने का प्रयत्न करना चाहिए। दूसरे शब्दों में सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल वर्णन का नया ढंग अपनाया जा सकता है। नयी समस्याओं के उपस्थित होने पर नये विषयक भी सामने आ जाते हैं।

हमारे आधुनिक जीवन में काफी जटिलता आ गयी है, इसकी भी अनेक समस्याएं हैं। इसलिए अब तो मौलिकता के लिए व्यापक क्षेत्र हो गया है। साथ ही नये-नये विचारों के प्रचार यथा फॉयड के मनोविश्लेषण के विचार, गांधी और मार्क्स के विचार आदि-भी लेखक की मौलिकता के लिए उन्मुक्त क्षेत्र प्रस्तुत करते हैं।

२. कौशल—कथावस्तु में सम्बन्ध निर्वाह उसकी उलझनों को सुलझाने की चतुरता आदि ही कौशल है पेचीदे उपन्यासों में जिनमें कथानक एक से अधिक समान्तर कथाओं के साथ आगे बढ़ता है, कौशल की बहुत आवश्यकता होती है।

३. सम्भवता—सम्भवता कथानक का आवश्यक गुण है। कहा गया

है ।—'असम्भाव्यं न वक्तव्यं प्रत्यक्षमपि दृश्यते ।'

गुलाबराय जी के शब्दों में भी, 'उपन्यास में सम्भव ही सत्य की कसौटी है ।' वास्तव में असम्भव कोई बात चाहता । विरोध का आभास होता तो प्रिय होता है, किन्तु वास्तविक विरोध रस का बाधक हो जाता है । अतः उपन्यासकार को सम्भवता पर विशेष ध्यान देना चाहिए । आज के बुद्धिवादी युग का अधिक सहारा लिया जाता है, दैवी सहायता मे लोग कम विश्वास करते हैं । दैवी सहायता होती अवश्य है, किन्तु उसे मानवी साधना द्वारा प्राप्त दिखाना—मानवी सिद्धांतों की सीमा से बाहर न जाकर उसी के अन्दर बुद्धि-सगति ढंग से प्रस्तुत करना उचित होता है, गुलाबराय जी भी कहते हैं—'कथानक की उलझनों को बौद्धिक उपकरणो के द्वारा सुलझाना वांछनीय है, क्योंकि इस प्रकार सुलझाई हुई उलझनों मे मनुष्य का गौरव बढ़ता है और उन्ही को लोग अधिक रुचि से पढ़ते हैं ।

सम्भवता का सम्बन्ध घटना-क्रम से बहुत अधिक है । अस्तु उपन्यास-कार को घटना-क्रम इस तरह रखना चाहिए कि कथानक के क्रमिक विकास के साथ-साथ सब बातों की व्याख्या होती चली जाय । पाठक के मन में नैतिक समस्या रहते हुए भी यह बात पैदा न हो कि अमुक कार्य किसी पात्र ने क्यों किया ?

उपन्यास के पात्र सामान्य जीवन के पात्रों से कुछ भिन्नता लिए होते हैं । उनके उद्देश्य और लक्ष्य अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट होते हैं; यदि न हो तो करना आवश्यक होता हैं । इसलिए उपन्यासकार को लोकशास्त्र का व्यावहारिक ज्ञान होना चाहिए । देशकाल का दोष उसकी कृति में नहीं आना चाहिए, नहीं तो सम्भावना के स्थान पर असम्भावना का अवांछनीय रूप प्रकट होगा । अत: सम्भावना के साथ औचित्य का ध्यान रखना सर्वथा आवश्यक है ।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह उपन्यास को एक कलाकृति मान-कर ही कहा गया है । अत: उसमें सत्य का सुन्दर प्रदर्शन आवश्यक है, जिसकी कसौटी सम्भावना ही है । उपन्यास घटनात्मक सत्य से संबन्धित

ो नहीं है, पर असम्भव और अघटनीय बात नहीं करता। उपन्यास की घटनाएं काल्पनिक होते हुए भी वास्तविक घटनाओं की प्रतिच्छाया होती है। इसी तथ्य के आधार पर उपन्यास वन-कथाओं से अलग हो जाता है। परीलोक की कथाओं (Fairy Tales) में तो सम्भावना की बात ही पैदा नहीं होती उनमें कल्पना की वास्तविकता होती है किन्तु उपन्यास में कल्पना की वास्तविकता को नहीं छोड़ी जा सकती वरन् उसी के अनुसार ही उसे भी बनाना होता है। किंतु यथा-तथ्य वर्णन या कोरी वास्तविकता भी कल्पना के अभाव में कलात्मकता नहीं प्राप्त करती। अतः कलाकार को इसका भी ध्यान रखना होता है। अभिप्राय यह है कि वास्तविकता का अर्थ 'मक्षिकास्थाने मक्षिका' जैसे अनुसरण नहीं वरन् कल्पना के योग से कलात्मक रूप देने में निहित है। कलाकार फोटोग्राफर नहीं वरन् चित्रकार होता है यह बात यहां विशेष महत्व की है।

बाबू गुलाबराय के शब्दों में 'उपन्यास हल्के रंगों की रूपरेखा स्पष्ट करता है और पाठक पर भी ऐसे कोने पर (चित्र के कोने पर) ले आने का प्रयत्न करता है, जहां से वह सत्य के सुन्दर रूप में दर्शन कर सकें। साधारण मनुष्य जिन बातों में बेखबर रहता है, कलाकार उसके विषय में सचेत रहता है। वह चलती दुनियां के परिवर्तनशील दृश्य में शाश्वतता को पकड़ता है। उसकी दृष्टि व्यापक होती है वह ऐसा चित्र देता है, कि जिसमें मनुष्य का आत्म भाव निखर आये। उसके चरित्र के आवश्यक पहलू प्रकाश में आ जायें। उपन्यासकार जीवन पर आधारित चित्र देता है, किन्तु वह चित्र ऐसा होता है। जिसके आलोक में हम जीवन को अच्छी तरह समझ सकें। वह चित्र के साथ पाठक को एक पारदर्शक चश्मा देने का प्रयत्न करता है। कलाकार जीवन का सत्य ही नहीं देता है, वरन् सत्य को समझने की दृष्टि भी देता है।

४. संघठितता—उपन्यास के कथानक में संगठन, क्रम और संगति का मतलब यह है कि कोई आवश्यक बात न तो छूटने पाये और न कोई अनावश्यक बात उसमें आने पायें। साथ ही यह भी आवश्यक है कि

घटनाएँ कार्य कारण शृंखला में बंधी हुई हों और क्रमानुकूल हों। वस्तुत: कार्य-कारण-शृंखला से ही घटना क्रम को कथावस्तु का रूप मिलता है। जहाँ दो कथाएँ साथ-साथ चलती हों, अथवा अनेक घटनाओं का गुम्फन हो, वहाँ कलाकार का कौशल इसी बात पर निर्भर करता है कि सभी कथायें या घटनायें परस्पर कार्य-कारण-शृंखला में बंधकर साथ-साथ आगे बढ़ें और एक माला की संयुक्त लड़ियों-सी प्रतीक हों, न कि विच्छिन्न या असम्बद्ध रूप में। आजकल कतिपय उपन्यासकार इस गुण की उपेक्षा करने लगे हैं। उनके बहुत से कथानक एकसूत्र रूप में केवल इसलिए माने जाते हैं कि वे एक ही पात्र से सम्बद्ध रखते हैं, जैसे 'अज्ञेय' की 'शेखर—एक जीवनी।

संगठन के साथ-साथ क्रम और संगति पर भी ध्यान रखना आवश्यक है। घटनाओं का कालक्रम या स्थान-क्रम से प्रस्तुत करना ही उचित है। क्रम की आवश्यकता इसलिए भी है कि वर्णन सुन्दर हो तथा कथानक को समझने में कठिनाई न हो। इसी तरह की संगति की आवश्यकता इस कारण है कि कथावस्तु की एकता और पात्रों का व्यक्तित्व ठीक तरह से प्रदर्शित हों। हाँ इस गुणों की सीमा पर भी ध्यान देना आवश्यक है।

५. रोचकता—तो उपन्यास के लिए अत्यंत आवश्यक ही है, क्योंकि इसके अभाव में न पाठक उसे पढ़ेंगे और न उसकी बिक्री होगी। फलतः वह उपन्यास प्रचार में न आ सकेगा और जन-जीवन को उससे कोई लाभ न हो सकेगा। अतः पाठक ऊबकर उपन्यास पढ़ना बन्द न कर दे, इस दृष्टि से कथानक को रोचकता प्रदान करना भी आवश्यकता है।

रोचकता के लिए 'कौतूहल' और 'नवीनता'—ये दो तत्व आवश्यक होते हैं। कौतूहल शान्त न हो, जाग्रत रहे और पाठक आगे पढ़ने की प्रेरणा प्राप्त करता रहे—यह नवीनता पर निर्भर है। अतः पुनरुक्ति से बचना अपेक्षित है। प्रतिक्षण नवीनता प्राप्त करना ही सौन्दर्य का गुण माना गया है और 'नॉविल' (Novel) का अर्थ भी 'नवीन' ही है।

रोचकता की दृष्टि से यह भी आवश्यक हो जाता है कि घटनाओं को एक दूसरे से सम्बन्धित रखा जाय और आकस्मिक तथा अप्रत्याशित बातों को भी आने दिया जाय। किन्तु यह ध्यान रहे कि वह कार्यकारण-शृंखला से अलग न हो, पर पाठक की कल्पना से बाहर अवश्य हो, अतएव उपन्यास के पात्रों का परिचय क्रमशः देना चाहिए उपन्यास की कुशलता इसी बात में होती है कि ऐसी कोई बात छिपाये नहीं, जिससे घटनाओं को समझाने में पाठक को कठिनाई हो, लेकिन सब बातें भी एक साथ ही न कह दी जाय कि आगे पढ़ने की उत्सुकता ही समाप्त हो जाय। पाठक के सामने जो कुछ आये, उससे उसकी उत्सुकता जागृत होती रहनी चाहिए आकस्मिक संयोग की भी अधिकता ठीक नहीं है क्योंकि स्वाभाविकता पर इसका बुरा असर होता है और कृत्रिमता मालूम पड़ने लगती है। इस तथ्य का लक्ष्य करते हुए गुलाबराय जी कहते हैं—'रोचकता के लिए न तो अधिक ब्यौरे की आवश्यकता है और न उसकी उपेक्षा की। विविधता में एकता का गुण शैली का ही प्राण नहीं, वरन् रचना मात्र का जीवन-रस है।' अतः उपन्यास में भी इन रस के ठीक संयोजन से कृति की सरसता एवं रोचकता प्रदान करना उपन्यासकार की कुशलता है।

यहाँ हमें कथानक के गुणों के विवेचना के क्रम में 'कथानक के रूप' पर भी थोड़ा ध्यान देना चाहिए।

१. द्रष्टा द्वारा कही गई कथा के रूप में-जैसा 'सेवासदन' में प्रेमचंद जी ने प्रस्तुत किया है।

२. आत्मकथा के रूप में, जैसा कि 'सियाराम शरण गुप्त' के उपन्याय अंतिम आकांक्षा' में प्रस्तुत किया है।

३. पात्रों के रूप में—जैसे बेचन शर्मा उग्र' के चन्द हसीनों के खूतून का रूप है।

प्रश्न ३४—'चरित्र-चित्रण उपन्यास का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है'—इस कथन को ध्यान में रखते हुए चरित्र-चित्रण के महत्व, प्रकार और विधियों पर संक्षेप में प्रकाश डालिए ।

बाबू गुलाबराय ने कहा है कि 'यदि उपन्यास का विषय मनुष्य है, तो चरित्र-चित्रण उपन्यास का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है, क्योंकि मनुष्य का अस्तित्व उसके चरित्र में है ।' वस्तुत चरित्र ही के सहारे एक मनुष्य दूसरे से अलग किया जा सकता है । चरित्र ही मनुष्य की Personality (व्यक्तित्व) को प्रकाशित करता है । इसके अंतर्गत मनुष्य का अंत: व्यक्तित्व (Introvert Personalty) और बाह्य व्यक्तित्व (Extravert Personality) आ जाता है । इन्हीं को गुलाबराय जी ने 'बाहरी आपा' और 'भीतरी आपा' कहा है । बाह्य व्यक्तित्व में मनुष्य का आकार प्रकार, वेश भूषा, आचार-विचार, रहन-सहन, चाल-ढाल, बात-चीत के विशेष ढंग और अन्य बाहरी क्रिया-कलाप सम्मिलित हैं । अत: व्यक्तित्व के संबन्ध में बाह्य व्यक्तित्व का इन तत्वों द्वारा अनुमान लगाया जा सकता है, बाह्य व्यक्तित्व का चित्रण तो आसान होता है किन्तु अन्त: व्यक्तित्व का चित्रण अपेक्षाकृत अधिक कठिन है । अन्त: व्यक्तित्व के अंतर्गत पात्र के मानवीय गुण और दुर्गुण दोनों आते हैं—बाहरी परिस्थितियों के प्रति संवेदनशीलता राग-विराग, महत्वाकांक्षायें अन्धविश्वास, पक्षपात, मानसिक संघर्ष, दया करुणा, उदारता आदि उसके गुण हैं और नृशंसा क्रूरता, अनुदारता ईर्ष्या द्वेष आदि उसके दुर्गुण । प्रत्येक पात्र अपनी सबलताओं और दुर्बलताओं दोनों को साथ लेकर समाज में आता है । समाज में ही उसके गुण प्रकाशित होते हैं और विकास पाते हैं । इसलिए व्यक्ति को अपने निजी गुणों और सामाजिक परिस्थितियों का प्रतिफल कहा जाता है । चरित्र-चित्रण में इन सभी बातों का ध्यान रखा जाता है ।

बाबू गुलाबराय जी कहते हैं—'चरित्र-चित्रण की अच्छाई और बुराई चरित्र को जीता जागता बनाने, उसे विशिष्टता और व्यक्तित्व

प्रदान करने तथा उसका उत्थान-पतन दिखाने में ही उतनी नैतिक अच्छाई बुराई दिखाने या विवेचन करने में नहीं है।' बुरे पात्र के चरित्र-चित्रण की सफलता अच्छाई-बुराई के ही सफल उद्‌घाटन में है—'सुधा सराहिए, अमरता, गरल, सराहिए मीचु।' उपन्यासकार जब एक बार पात्रों की सृष्टि कर लेता है, तब वे अपनी इच्छाओं के अनुकूल चलाना चाहे, तो उनकी सजीवता में अन्तर आ जायगा पात्र कठपुतली की भांति सूत्र-सचालित नहीं हो सकते।

ऊपर हमने चरित्र-चित्रण का महत्व बतलाया। अब हमें 'चरित्रों के प्रकार पर दृष्टि डालनी है।

चरित्रों के प्रकार—चरित्रों को विविध दृष्टिकोणों से विविध प्रकारों में बांट सकते हैं। गुण के आधार पर मोटे रूप मे उनके दो प्रकार हैं—

(१) प्रतिनिधि पात्र—जो पात्र अपनी जाति या वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, उन्हें प्रतिनिधि पात्र कहते हैं। इसके दूसरे नाम हैं—टाइप (type) वर्गगत और सामान्य। उदाहरणार्थ, 'प्रेमचन्द' के उपन्यास 'गोदान' के 'रायसाहब'—अपनी जाति या जमींदार वर्ग या टाइप का प्रतिनिधित्व करते है। प्राय: बड़े जमीदारों का स्वरूप उन्हीं जैसा होता रहा है। ऐसे पात्रों के प्रति रूप बहुत मिल जाते हैं। इसलिए इन्हें 'सामान्य' भी कहते हैं।

(२) व्यक्तित्व प्रधान पात्र—इसी क्रम में 'व्यक्तित्व-प्रधान' पात्र भी आते हैं। 'व्यक्तित्व-प्रधान' पात्र वे होते हैं जो अपनी निजी विशेषता के लिए समाज में आते हैं। वे साधारण लोगों से कुछ विलक्षण होते हैं। (गुलाबराय) इस प्रकार के पात्रों के उदाहरण हैं—जैनेन्द्र कृत 'सुनीता' उपन्यास के हरिप्रसन्न या सुनीता, अज्ञेय-कृत 'शेखर—एक जीवनी' का 'शेखर'।

गुलाबराय जी ने इस स्थल पर बहुत मार्के की बात कही है—'वास्तव में न कोई पात्र नितान्त सामान्य होता है और न नितान्त व्यक्तित्व-प्रधान। किसी में सामान्य गुण अधिक होते हैं, वे उसके सामान्य

गुण कहे जाते हैं और जो वह अपने साथ लाया है, वे विशेष।' इन्हीं गुणों के आधार पर विशेष पात्र या व्यक्तित्व प्रधान-पात्र या और सामान्य पात्र या प्रतिनिधि-पात्र दो उक्त भेद हैं।

किंतु, गुलाबराय जी का मत है कि 'सामान्य और विशेष गुणों के सफल सम्मिश्रण में ही चरित्र-चित्रण की सफलता है। पात्र में न तो इतनी सामान्यता होनी चाहिए कि उसमें व्यक्तित्व ही न रहे और न इतनी विशेषता कि वह सनकी (पागल) बन जाय।'

चरित्रों के गति के आधार पर भी विभाजन किया गया है। इस दृष्टि से भी उनके मोटे रूप में दो भेद हो जाते हैं—

१—स्थिर-चरित्र और २—गतिशील या परिवर्तनशील चरित्र।

१—स्थिर चरित्र—वाले पात्रों में बहुत कम परिवर्तन होता है—उनमें आदि से अंत तक लगभग एक स्थिरता-सी दीख पड़ती है। जैसे 'गोदान' का पात्र 'होरी' 'सुनीत' के पात्र 'सुनीता' और हरिप्रसन्न आदि।

२—गतिशील चरित्र—वाले पात्रों मे अपेक्षाकृत अधिक परिवर्तन होता है—उत्थान और पतन या पतन और उत्थान—दोनों ही बातें उनमें दिखाई पड़ती हैं। उदाहरणार्थ—प्रेमचंद जी के उपन्यास 'सेवा-सदन' की 'सुमन' और 'सदन' या 'गबन' उपन्यास में 'जालपा' और उसका पति 'रामनाथ' ऐसे ही पात्र हैं।

चरित्र-चित्रण की विधियाँ—कई प्रकार की हो सकती हैं। यह उपन्यासकार पर निर्भर करता है कि वह कैसे चित्रण करे। कभी तो वह स्वयं अपनी ओर से पात्र का वर्णन कर देता है और कभी पात्रों का ही भाषण और क्रिया-कलाप द्वारा इसको पूरा करता है। इन दोनों तरीकों से पाठक को चरित्रों के विषय में परिचय मिलता है। इस दृष्टि से चित्रण की दो मुख्य विधियाँ मिलती हैं—

विश्लेषणात्मक (Analytical) विधि—में उपन्यासकार स्वयं चरित्र पर प्रकाश डालता है। जैसे 'गोदान' में 'मुन्शी प्रेमचन्द्र' जी ने

'मिस्टर बचा' और 'मिर्जा खुर्शेद' के चरित्र के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त किया है।

२—अभिनयात्मक या नाटकीय (Dramatic) विधि—में उपन्यासकार स्वयं चरित्र पर प्रकाश नहीं डालता, बल्कि पात्रों द्वारा यह कार्य भाषण, वार्तालाप या क्रियाकलाप) करवाता है।

उक्त दोनों विधियों को क्रमशः 'प्रत्यक्ष' और 'परोक्ष विधि भी कह सकते हैं। नाटकों में परोक्ष विधि से ही चरित्र-चित्रण होता है, उनमें प्रत्यक्ष विधि की गुंजाइश नहीं होती। कभी-कभी पात्र स्वयं ही अपने चरित्र का उल्लेख कर देता है—यह भी नाटकीय विधि ही है। आजकल यही विधि नाटकों में अधिक प्रचलित है।

उपन्यास में प्रत्यक्ष विधि का ही अधिक उपयोग होता है, किंतु नाटकीय विधि का उपयोग बहुत अधिक किया जाता है। वास्तव में, जिस प्रकार मनुष्य अपने साथियों का परिचय रहन-सहन के आधार पर ही प्राप्त करना चाहते हैं, उसी प्रकार उपन्यासों के पात्रों का भी परिचय वार्तालाप, स्वगत-कथन तथा उनकी क्रिया-कलापों द्वारा ही प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं।

अतः 'चरित्र-चित्रण में वार्तालाप के साधन को सावधानी से काम में लाना चाहिए। वार्तालाप और कार्य ऐसे होने चाहिए, जिनमें चरित्र की कुंजी निहित हो।' (गुलाबराय)

यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि कथावस्तु के अनुसार पात्रों का चरित्र-चित्रण हो या पात्रों के अनुसार कथावस्तु रखी जाय? या दोनों को परस्पर आश्रित माना जाय? इस प्रश्न के उठने का कारण उपन्यासकार के लिए महत्वपूर्ण है, कारण यह है कि कथावस्तु का यदि पहले से निर्णय कर लिया जाता है, तो उसमें पात्र स्वतंत्र नहीं रहते हैं और न केवल पात्रों पर ही कथा का विकास छोड़ दिया जाता है तो उसमें संगठन और अन्विति का अभाव हो जाता है। पूर्व निर्धारित क्रम के अनुकूल कथा को चलाने में एक दोष यह भी आ जाता है कि कभी-कभी पात्रों

को अपनी प्रकृति के अनुकूल कार्य करने पड़ते हैं।

उक्त प्रश्न के कारणों पर विचार करते हुए गुलाबराय जी लिखते हैं—'वास्तव में कथावस्तु को उपन्यासकार नहीं वरन पात्र बनाते हैं। पात्रों को उपन्यासकार जन्म देता है। उपन्यासकार कथावस्तु द्वारा उन परिस्थितियों को उत्पन्न कर देता है जिनसे कि चरित्र प्रकाश में आवे परिस्थितियाँ भी आसमान से नहीं उतरतीं वरन वे भी पात्रों के क्रिया-कलाप से उपस्थित होती है। अच्छे उपन्यास में कथानक की परिस्थितियों और पात्रों के व्यक्तित्व में आदान-प्रदान रहता है। वे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। विकासशील पात्र परिस्थितियों से अधिक प्रभावित होते हैं। स्थिर पात्र जहाँ के तहाँ बने रहते हैं। उपन्यासकार को चाहिए कि पात्रों की प्रकृति के अनुकूल उनकी अपनी निजी प्रेरणाओं के अनुसार चलने दें। उनके व्यक्तित्व को कथानक के पूर्व निर्दिष्ट फल के लिए नष्ट कर देना व्यक्तियों के साथ अन्याय होगा। उनके चरित्र से जैसा कार्य विकसित हो सके उनसे वैसा ही काम लेना चाहिए। उपन्यासकार चाहे जो कुछ हो उसे किंतु इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि दुनियाँ में सब एक ही टाइप के लोग होते हैं।

चरित्र चित्रण सम्बंधी उक्त कथन पूर्वोक्त समस्या का समाधान करते हुए उपन्यासकार को भी दिशा दर्शन कराता है। अब इस संदर्भ में यह देखना है कि चरित्र चित्रण के अन्य आवश्यक गुण क्या हैं ?

चरित्र-चित्रण में संगति का महत्वपूर्ण स्थान है। अकारण चरित्र में परिवर्तन करना अनुचित है। उपन्यासकार को कभी भी मनमाने ढंग से किसी पात्र के चरित्र में परिवर्तन नहीं करना चाहिए, वरन यह परिवर्तन परिस्थितियों के अनुसार ही होना चाहिए—सकारण होना चाहिए। संकुल और पेचीदे चरित्र में संगति कम होनी आवश्यक है किंतु संगति के नियम की अवहेलना उपन्यासकार के लिए ठीक नहीं। 'असंगति में भी एक प्रकार की संगति रह सकती है।' गुलाबराय के शब्दों में—चरित्र चित्रण के गुणों में संगति के साथ सजीवता और स्वाभाविकता भी आव-

श्यक है। संगति इस सीमा तक न हो कि पात्र बिल्कुल मशीन बन जावे। उसके कार्यों की विविधता होना ही उसमें ऊब पैदा करने से सुरक्षित रखेगा, किंतु जो कार्य हों वे चरित्र और परिस्थितियों के अनुकूल हों 'स्वाभाविकता' कहते हैं।

कहना न होगा कि चरित्र चित्रण इन गुणों के कारण उत्तम कोटि का होता है कि प्रभावशाली और रोचक बन जाता है।

प्रश्न ३५—'वही उपन्यासकार उच्चकोटि के समझे जाते हैं जहाँ आदर्श का समावेश हो गया हो।' प्रेमचंद के इस कथन को ध्यान में रखते हुए उपन्यास में यथार्थ और आदर्श के सम्बंध में अपने विचार दीजिए।

उपन्यास भी महाकाव्य की भाँति जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करना है। इस दृष्टि में उपन्यासकार के समक्ष यह बड़ी कठिन समस्या पैदा हो जाती है कि वह जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए जीवन बिल्कुल वास्तविक रूप में जैसा भला-बुरा है उसी रूप में चित्रित करें या उसका कुछ सुधरा हुआ रूप प्रस्तुत करें। दूसरे शब्दों में जो है वही दिखाया जाय या जो होना चाहिए वह दिखाया जाय यही यथार्थ और आदर्श का प्रश्न है।

बाबू गुलाबराय जी के शब्दों में—'जीवन ज्यो के त्यों अर्थात बिना कल्पना का रंग चढ़ाए हुए यथातथ्य चित्रण को यथार्थवाद करते हैं और कल्पना के आधार पर उसका सुधरा हुआ रूप उपस्थित करने को आदर्शवाद कहते हैं।

यथार्थ और आदर्श को कई श्रेणियों में देखा गया है। साथ ही इन वादों का दुरुपयोग भी खूब किया जाता है। अस्तु उपन्यासकार को इस स्थल पर सावधानी से काम लेने की आवश्यकता होती है। यथार्थवाद के सम्बंध में गुलाबराय जी का कथन है कि 'यथार्थवादी की अच्छाई बुराई तथा उनकी मात्रा लेखक के उद्देश्य पर आश्रित रहती है। जीवन भी धूप-छाँहमय जैसे ताना-बाना, पापपुण्य, गुणदोष के वस्तुओं से मिला

हुआ है। वास्तविक यथार्थवाद तो गुण और दोषों का उचित अनुपात में दिखाना है, किंतु प्रायः लोग यथार्थ के नाम पर मनुष्य की बुराइयों और दुर्बलताओं का उद्घाटन करते हैं।'

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि यदि बुराइयों का उद्घाटन इस उद्देश्य से किया जाता है कि लोगों का ध्यान इन बुराइयों की ओर आकृष्ट हो और कुफल को देकखर लोग सुधार में प्रवृत्त हों, तब तो गनीमत है; लेखक इस आधार पर क्षम्य है। किन्तु यह बुराइयों का उद्घाटन करने के उद्देश्य लोगों की कुरुचि से लाभ उठाना हो या उसके आधार पर उपन्यास की बिक्री बढ़ाना हो या मानव समाज से कोई अपना बदला लेना हो तब तो ऐसा करना निन्दनीय और लेखक कभी भी क्षमा का पात्र नहीं है। गुलाबराय जी ठीक ही कहा हैं—लोग प्रायः सुधारक के नाते ही मानव-दुर्बलताओं का उद्घाटन करते हैं। किन्तु वास्तव में इनका उद्देश्य कुरुचि का पोषण होता है। यथार्थवाद निन्दनीय है।'

उक्त दोष के अलावा यथार्थवाद में दोष और भी हैं। प्रथम यह कि 'जब लोग बुराई को फलते-फूलते और साधुता (अच्छाई) को दुःख उठाते देखते हैं, तब हम एक प्रकार से निराशावादी हो जाते हैं और उद्योग उत्साह और सदाचार के लिए आकर्षण कम हो जाता है।' द्वितीय दोष यह है कि हमारे जीवन में स्वयं यथार्थवाद दिखाई देता रहता है और दुःख संघर्ष पर्याप्त मात्रा में अनुभूति रहती है, फिर साहित्य में हम उसी की पुनरावृत्ति नहीं देखना चाहते क्योंकि इससे हम मन को बोझिल करना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में यथार्थवाद से कुरुचि का पोषण निराशावादिता का विकास, आशा अकांक्षा, उद्योग, उत्साह सदाचार का ह्रास होता है और साथ ही उससे हमारा न तो मनोरंजन होता है। और न कोई संदेश ही हमें प्राप्त होता है, उल्टे अधिकांश लोग बुराइयों के ही शिकार हो जाते हैं और अपना जीवन स्वयं बरबाद कर देते हैं।

और कारण है कि आदर्श वाद की ओर उन्मुख होना आवश्यक हो जाता है। गुलाबराय जी भी यही स्पष्ट करते हैं—'आदर्शवाद उबे हुए जीवन के लिए एक वैविध्य उत्पन्न कर देता है।' किन्तु उन्हीं के शब्दों में 'इसका अर्थ यह है कि हम पालबवादी बन जायें।

हम देखते हैं कि साहित्य में, विशेषकर, उपन्यास में कुरुचिपूर्ण यथार्थवाद अधिक पनप रहा है। इसका कारण यही है कि लोग मनुष्य की बुराइयों का सहज में विश्वास कर लेते हैं, भलाइयों या अच्छाइयों का विश्वास करने में उन्हें कुछ संशय रहता है। यह मनुष्य-स्वभाव की मनोवैज्ञानिक विशेषता है। इसके प्रति भी सावधान रहने की बहुत जरूरत है।

वस्तुत: कोई भी उपन्यासकार शुद्ध रूप से यथार्थवादी नहीं हो सकता, क्योंकि पूरे जीवन या उसके कुछ वर्षों की समग्र घटनाओं और तथ्यों को कुछ ही समय में ही कुछ ही पंक्तियों में दिखाना सम्भव नहीं है, अत: कलाकार के लिये चुनाव अधिक महत्वपूर्ण होता है और साथ ही आवश्यक भी। गुलाबराय जी भी ऐसा मत व्यक्त करते हैं—'चुनाव कला के लिये आवश्यक है, लेखक यदि उज्जवल पक्ष के लिये चुनाव है, तब वह आदर्शवादी कहलाने लगता है और वह जब अन्धकारमय पक्ष की ओर अधिक ध्यान देता है, तब वह यथार्थवाद गिना जाता है।' वह बात उपन्यास को कला उपन्यासकार को कलाकार मानकर कही गई है। अत: कला की दृष्टि से गुलाबराय जी आगे लिखते हैं—'कला में 'जो' है, वह (तो है ही) उसके साथ 'होना चाहिए' का भी प्रश्न रहता है। यदि हम 'जो है, उसी का चित्रण करते हैं, तो साहित्य से जीवन को कोई दिशा नहीं मिलती है।'

राष्ट्रकवि डा० मैथली शरण गुप्त भी 'साकेत' काव्य में लिखते हैं—

'हो रहा है जो यहाँ, सो हो रहा,
यदि यही हमने कहा, तो क्या कहा ?
किन्तु होना चाहिये कब क्या कहाँ,

व्यक्त करती है कला की यह यहाँ।
मानते हैं जो कला के अर्थ ही,
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।
वह तुम्हारे और तुम उसके लिए,
चाहिए पारस्परिकता ही प्रिये।

अतः कला में आदर्शवाद और यथार्थवाद दोनों का समन्वय होना सर्वथा वांछनीय है। इस सन्दर्भ में गुलाबराय जी का कहना है—'आदर्शवाद और यथार्थवाद दोनों की सीमाएँ हैं, यथार्थवाद को ऊब और अकर्मण्यता से बचना चाहिए। साहित्य में शालीनता का परित्याग करना आत्महत्या है। लोग यह अवश्य कहेंगे कि जब वास्तविक जीवन गिरा हुआ है तब साहित्य में शालीनता कहाँ से आएगी? किन्तु जीवन में सब कुछ बुरा ही बुरा नहीं है और न सब कुछ अच्छा ही अच्छा है इसलिए आदर्शवाद को भी अतिवाद के दोष से बचाने की आवश्यकता है।'

उक्त तथ्य के सम्बन्ध में उपन्यासकार सम्राट प्रेमचन्द की कतिपय स्मरणीय पंक्तियाँ उद्धृत करना असंगत न होगा उनका कहना है—

'यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुंचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में गुण हैं वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चित्रों को चित्रित न कर बैठें। जो सिद्धान्तों की मूर्ति-मात्र हो—जिसमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करनी मुश्किल है।'

प्रश्न ३६—गद्य और पद्य के प्रधान अन्तर को स्पष्ट करते हुए निबन्ध का महत्व बताइए और उसकी परिभाषा तथा तत्वों पर भी प्रकाश डालिए।

प्रश्न ३७—गद्य काव्य में निबन्ध का क्या स्थान है?

इसका महत्व प्रतिपादित करते हुए इसकी विभिन्न परिभाषायें देकर अपना निष्कर्ष प्रस्तुत कीजिए ।

प्रश्न ३८—'यदि गद्य कवियों की कसौटी है, तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।'—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के इस कथन का विवेचन करते हुए निबन्ध का स्वरूप स्पष्ट कीजिये।

प्रश्न ३६—'निबन्ध' की परिभाषा के संबंध में विभिन्न विद्वानों का मत देते हुए उसके प्रमुख तत्वों का विवेचन कीजिए।

आधुनिक युग में गद्य की प्रधानता है। गद्य और पद्य में प्रमुख अन्तर छन्दबद्धता और व्याकरण-नियम-बद्धता का है। इसी अन्तर को लक्ष्य करते हुए प्राचीन आचार्यों ने भी संस्कृत साहित्य की गद्य-रचना के संबंध में कहा था—'गद्य कवीनां निकषं वदंति' अर्थात् 'गद्य कवियों की कसौटी है।' इस धारणा के अंतर्गत विशेष बात नहीं है कि कविता की अपेक्षा गद्य में दोष अधिक प्रत्यक्ष हो जाते हैं। डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में 'कविता में छंद की गति में कल्पना, अनुभूति, उक्तिवैचित्र्य आदि की अद्भुत सघनता रहती है और दो एक चमकते हुए शब्द या उक्तियाँ सारे छंद को जगमगा देती है, पर गद्य के लिए सर्वांग सुन्दर होना आवश्यक है।' यही कारण है कि गद्य काव्य का विस्तार प्रधानतया आधुनिक युग में ही हुआ है। दूसरे शब्दों मे, आजकल गद्य का जितना व्यापकत्व और विस्तार है, उतना पद्य का नहीं है।

संगठन सूत्र के आधार पर गद्य काव्य के प्रधानतया तीन भेद है—(१) गद्य प्रबंध, (२) अनिबद्ध, मुक्तबद्ध या निबंन्ध और (३) निबंध।

निबंध का महत्व—उक्त भेदों में निबंध ही सर्वाधिक संगठित गद्य-रचना है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने पूर्वोक्त उक्ति को लक्ष्य

करके कहा है—यदि कवियों की कसौटी है, तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।

डा० गुलाबराय जी भी लिखते हैं—'वास्तव में निबंध में ही हम गद्य का निजी रूप देखते हैं। साहित्य की अन्य विधाओं में। जैसे जीवनी आदि में तो गद्य की भाषा एक माध्यम-मात्र है किन्तु निबन्ध में ही वह अपनी पूर्ण शक्ति और सजधज के साथ प्रकट होती है। निबन्ध में ही गद्य लेखक की शैली का पूर्ण विकास दिखाई पड़ता है और शैली ही व्यक्ति है (Style is the man himself) की उक्ति साहित्य की इस विधा के संबंध में पूर्णतया सार्थक होती है। काव्य की इस विधा में सभी तत्व रहते हैं किंतु इसमें शैली को कुछ अधिक महत्व मिला है। कोई विषय निबन्ध के क्षेत्र से बाहर का नहीं है। इतिहास पुरातत्व. दर्शन. विज्ञान. आलोचना. जीवन-मीमांसा. कथा. यात्रा सभी इसके व्यापक क्षेत्र के भीतर आते हैं। शैली की विशेषता विविध प्रकार के विवेचनों और वर्णनों को निबंध की संज्ञा प्रदान करती है।'

'साहित्य के इतिहास में निबंध पीछे की कला है। वह अपने लिए साहित्य की सभी विधाओं से सामग्री ग्रहण करती है। लक्षणा-व्यंजना. हास्य-व्यंग्य आदि शैली के सभी साधन इस विधा की सेवा के लिए उपस्थित रहते हैं। निबन्ध के भीतर प्रबन्ध का सा तारतम्य रहता है, किंतु एक संग्रह के भीतर (निबन्धों के संग्रह से तात्पर्य है) निबन्धों में मुक्तक की सी स्फुटता रहती है। यह कहानी और खण्डकाव्य के अधिक निकट हैं।

निबन्ध का अर्थ एवं परिभाषा—

'निबन्ध' शब्द संस्कृत से लिया गया है, जिसका सीधा-सीधा अर्थ है—नि:शेष रूप से बन्ध या संगठन अर्थात् वह गद्य रचना जिसमें यह गुण हो। 'बन्ध' शब्द का जो अर्थ प्रबन्ध में है. अर्थात् तारतम्यता एवं संगठन वही अर्थ निबन्ध में भी है। इस प्रकार मोटे रूप में निबन्ध में तारतम्यता एवं संगठन का होना अपेक्षित है।

आजकल हिंदी में निबंध के साथ ही अंग्रेजी का 'Essay' शब्द भी पर्याय रूप में प्रयुक्त होता है, किंतु इन दोनों व्युत्पत्ति की दृष्टि से पूर्व और पश्चिम के भेद है, अर्थात् दोनों का अर्थ भिन्न है। 'Essay' का अर्थ है—'प्रयत्न।' यूरोप में 'Essay' की विधा के जन्मदाता फ्रांसीसी लेखक 'मोण्टेन' (Montaigne) हैं, जिन्होंने इस शब्द का व्यवहार इसी अर्थ में (प्रयत्न का अर्थ) में किया है। इसका प्रमाण यह भी है कि उनके निबंधों में सम्बद्धता और संगठन की बहुत कमी है। वे निबंध कल्पनाशील मन के विचरण-मात्र कहे जा सकते हैं।

इसी प्रकार पाश्चात्य विद्वान डॉ० जानसन (Dr. Johnson) की परिभाषा में अंग्रेजी निबन्ध असंगठित, अपूर्ण और अव्यवस्थित मन का विचरण है—'Aloose sally of mind an lrregular' undigested piece, not a regularand orderly performaence.

किंतु अंग्रेजी निबंध 'Essay' का यह अर्थ शाब्दिक और प्रारम्भिक है। आगे चलकर लेखक की रुचि शृंखला आकृष्ट होती गई और अब इसके अन्तर्गत अन्य तत्वों की अपेक्षा बुद्धि-तत्व का अधिकाधिक समावेश होने लगा है। अब असंबद्धता निबंध का गुण नहीं, दोष मानी जाती है। अस्तु, अब व्यवहार में पाश्चात्य शब्द Essay और हिन्दी या संस्कृत शब्द 'निबंध' प्रायः समानार्थी हो गये हैं; फिर भी उनमें अपने नाम का थोड़ा बहुत प्रभाव अब भी शेष है।

निबंध संबंध में 'बेकन' एडिसन और प्रीस्टले प्रभृति अंत पाश्चात्य विद्वानों ने भी अपने-अपने मत दिये हैं जो काफी महत्वपूर्ण हैं। उन सभी मतों में मुख्य रूप से वैयक्तिक विचारों का ही प्रकाशन हुआ है।

'मेरे' (Murray) के अंग्रेजी कोष में निबंध की एक लम्बी परिभाषा दी हुई है. जिसमें 'जॉनसन' की परिभाषा को प्रारम्भिक कहा गया है और शैली की विशदता पर अधिक बल दिया है।

वास्तव में. यूरोप और भारत में निबंध साहित्य इतना विस्तृत

और वैविध्यपूर्ण है कि निबंध शब्द में कुछ लक्षणों को घेरे में बांधना कठिन हो जाता है। यह भी स्मरणीय है कि हिन्दी में निबंध आधुनिक युग की विधा है और पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क की देन है। पश्चिम में अंग्रेजी और फ्रेंच आदि में इस विधा का सुन्दर विकास बहुत पहले ही हो चुका था। अतः पश्चिमी विद्वानों और भारतीय विद्वानों की निबन्ध-विषयक विभिन्न धारणाओं को स्वीकार कराते हुए डा० भगीरथ मिश्र निबन्ध की परिभाषा इस प्रकार देते हैं—

निबंध वह गद्य रचना है, जिसमें लेखक किसी भी विषय पर स्वच्छंदतापूर्वक, परन्तु, एक विशेष सौष्ठव, संहिता सजीवता और वैयक्तिकता के साथ अपने भावों, विचारों और अनुभवों को व्यक्त करता है।

इसी प्रकार की परिभाषा गुलाबराय जी ने भी प्रस्तुत की है—

'निबन्ध उस गद्य रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन स्वच्छंदता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता से किया गया हो।'

सारांश रूप में निबंध में किसी कथानक के अभाव में भी विचार शृंखला, भावधारा या विचरण क्रम की निबद्धता रहती है। प्रायः वह गद्य रचना, जिसमें किसी विषय का शृंखलित विवेचन अथवा वैयक्तिक भाव या विचारधारा का क्रमबद्ध रोचक प्रकाशन प्रस्तुत किया जाता है निबंध है।

उक्त विवेचन के पश्चात् यह कहा जा सका है कि प्रायः सभी निबंधों में निम्नलिखित बातें प्रमुखता रहती हैं :—

(१) लघुता निबंध अपेक्षा कृत आकार ने छोटी गद्य रचना के रूप में होता है। यहाँ यह भी जान लेना चाहिए गद्य के अलावे गद्य निबंध भी हमें देखने को मिलते हैं, जैसे अंग्रेजी में 'Pope'S Essay on man' और हिन्दी में आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी का पद्य-निबंध

है कथिते द्रष्टव्य' है। फिर भी निबंध गद्य की ही विधा है। और इसीमें अधिकांश निबन्ध लिखे गये हैं।

यहाँ एक बात और भी है कि प्रसिद्ध दार्शनिक 'लॉक' (Lock) का दार्शनिक प्रबंध (On Essay on Human understanding) ४००–५०० पृष्ठों का है, लेकिन यह अपवाद है। हमें यह न समझना चाहिए कि निबंध की लम्बाई इतनी अधिक भी हो सकती है। हो सकता है अपनी लघुता प्रकट करने के लिये या संकोच के कारण लेखक ने इतनी लम्बी रचना को 'Essay' की संज्ञा दे दी है।

(१) निजीपन और व्यक्तित्व—निबंध का स्वरूप ही ऐसा होता है कि उसमें लेखक का निजीपन और व्यक्तित्व झलकता रहता है। लेखक जो कुछ भी लिखता है, वह उसका निजी मत होता है या निजी दृष्टि कोण से प्रतिपादित करता है और उसके पीछे उसकी निजी प्रेरणा होती है उसका व्यक्तित्व निबंध में छिप ही नहीं सकता।

(३) स्वत:पूर्णता–अपूर्णता और स्वच्छन्दता के होते हुये भी स्वत: पूर्णता निबंध में आवश्यक है। 'एक प्रकार के गद्य का मुक्तक काव्य है। उसमे प्रगति काव्य सा निजीपन रहता है। जिस प्रकार कहानी जीवन के एक पहलू की झाँकी है, उसी प्रकार निबंध में एक दृष्टि कोण है। उसके लिए विषय का पूर्ण प्रतिपादन आवश्यक नहीं है। कहानी का उदय तथ्य की झलक से होता है। उसी प्रकार निबंध भी एक नयी झलक लेकर आता है। गुलाबराय जी के इन शब्दों से यह तथ्य प्रमाणित है।

(४) रोचकता एवं सजीवता साधारण गद्य की तुलना में निबंध में रोचकता एवं सजीवता अधिक होती है। उसमें गुलाबराय जी के शब्दों प्रतिभा की चमक-दमक रहती है और वह वर्णन मात्र नहीं होता। दार्शनिक निबंध भी दार्शनिक ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक सजीव होगा। उसमें शैली के उत्कर्ष के लिये ध्वनि, हास्य, व्यंग्य, लाक्षणिक प्रयोग और स्वल्प मात्र में भी अलंकारों का भी समावेश किया जा सकता है। निबंध अपनी प्रतिभा के बल से साधारण को भी असाधारण बना देता है।

जीवन की सिकता (बालू) भी उसकी प्रतिभा के प्रकाश में रजत कणों की भाँति जगमगा उठती है।'

उपर्युक्त विशेषताओं के देखते हुये हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि काव्य के चारों तत्व—कल्पना तत्व, रागात्मक तत्व, या भाव तत्व बुद्धि तत्व या विचार तत्व और शैली तत्व—प्रायः सभी निबंधों के आवश्यक तत्व हैं। हाँ इनमें से किसी निबंध में कल्पना तत्व प्रधान होता है तो किसी में रागात्मक तत्व और किसी में दोनों ही समान तत्व समान रूप में वर्तमान रहते हैं। शैलीगत विशेषता ही निबन्धकार और निबंध को एक कर देती है तथा दूसरे निबंधकार और निबंध से पार्थक्य भी इसी से स्पष्ट होता है।

प्रश्न ४०—निबंधों के विषय भेदों का परिचय देते हुये उनकी शैलियों और शैलीगत विशेषताओं का संक्षिप्त परिचय दीजिये। अच्छी निबंध शैली के गुण भी संक्षेप में बताइये।

निबंध गद्य काव्य की महत्वपूर्ण विधा है। यों तो साधारणतया निबंधों के दो रूप देखने को आते हैं—(१) रचनात्मक (Creative) और (२) विवेकात्मक (Critical) किन्तु इनमें रचनात्मक निबंध ही गद्य काव्य के भीतर आते हैं और दूसरे प्रकार के निबंध शास्त्र की सीमा में आते हैं—ऐसा डा० भगीरथ मिश्र का विचार है। यह सर्वथा उचित और संगत है, क्योंकि शास्त्रीय आलोचना से सम्बन्धित निबंधों को निबंध तो कह सकते हैं, किन्तु उन्हें गद्य काव्य के भीतर रखना समीचीन नहीं जान पड़ता, उसका उल्लेख तो शास्त्र के भीतर ही होना संगत कहा जायगा।

भेद—रचनात्मक निबंधों को हम चार भागों में बाँट सकते हैं—

१—वर्णनात्मक (Descrptive)
२—विवरणात्मक (Narrative)
३—विचारात्मक (Reflective) और
४—भावात्मक (Emotional)

इनमें परस्पर मिश्रण से और भी अनेक भेद-प्रभेद हो सकते हैं किन्तु ये मुख्य रूप से विद्वानों के द्वारा स्वीकृत है। इनके सम्बन्ध अधोलिखित विवरण प्रस्तुत करते हैं :—

(१) वर्णनात्मक—निबंधों में किसी घटना, वस्तु या पदार्थ को स्थिर रूप देखते हुये उसका वर्णन किया जाता है। इसका संबंध अधिकतर देश से है। डा. भगीरथ मिश्र के अनुसार, इसी का एक रूप रिपोर्ताज है।

(२) विवरणात्मक—निबंधों में वस्तु या कला का गतिशील चित्रण या विवरण रहता है अर्थात वह कालक्रम के अनुसार होता है अतः इसका सम्बन्ध अधिकांश में काल से रहता है, वस्तु को गतिशील रूप में देखना ही इसकी विशेषता है। इसी तथ्य को डॉ० भगीरथ मिश्र ने इस प्रकार कहा है—वर्णन का सम्बन्ध देश से है और विवरण का सम्बन्ध काल से है अतः विवरणात्मक निबंधों में वर्ण्य विषय स्थिररूप में नहीं वरन गतिशील रूप में रहता है, वह प्रगति समय और स्थान दोनों ही में हो सकती है। समय की प्रगति कालक्रम में और स्थान की प्रगति यात्रा आदि के रूप में देखी जाती है।

(३) भावात्मक—निबंधों का सम्बन्ध मुख्यतया हृदय से है। 'इनका प्रधान उद्देश्य भावोद्रेक या रस संचार है। निबंध का यह सबसे प्रभावशाली रूप है प्रेम, करुणा, हास्य वीरता आदि के भावों का चित्रण करने वाले निबंध बड़े ही प्रभावपूर्ण होते हैं।' [डा० भगीरथ मिश्र]

(४) विचारात्मक—निबंधों में किसी विषय पर रोचक ढंग से विचारों को प्रकट किया जाता है। ईनमें तर्क का अधिक सहारा लिया जाता है। अतः ये मस्तिष्क से अधिक सम्बन्ध रखते हैं। गुलाबराय जी के अनुसार—'विचारात्मक निबन्धों के आलोचनात्मक, गवेषणात्मक विवेचनात्मक आदि कई प्रकार के हैं। डा० मिश्र का इससे मतभेद है। [ऊपर कहा गया है।]

उपर्युक्त वर्गीकरण को देखने से पता लगता है कि ये विभाग निबंधों

के वर्ण्य विषय और उनकी वर्णन पद्धति को ध्यान में रखकर किए गए हैं तत्व की दृष्टि से भी इन्हें अलग-अलग ढंग से विभाजित किया जा सकता है।

यों तो काव्य के चारों तत्व—कल्पना—तत्व रागात्मक या भाव-तत्व बुद्धि या विचार—तत्व और शैली—सभी प्रकार के निबन्धों में आपेक्षित रहते हैं, फिर भी प्रधानता की दृष्टि से कहा जा सकता है कि वर्णनात्मक और विवरणात्मक—इन दोनों निबंधों में कल्पना-तत्व की प्रधानता होती है, अतः ये दोनों ही कल्पना-प्रधान निबंधों की कोटि से रखे जा सकते हैं।

इसी प्रकार विचारात्मक निबंधों में विचार-तत्व या बुद्धि तत्व प्रधान होता है अतः इन्हें विचारात्मक कहना युक्ति संगत ही है; चाहे विचार प्रधान या बुद्धि प्रधान निबंध भी कह सकते हैं।

भावात्मक निबंधों में भाव-तत्व या रागात्मक तत्व की प्रधानता होती है। इन्हें भाव प्रधान निबंध भी कहा जा सकता है।

जहाँ तक शैली-तत्व का सम्बन्ध है, वह समान रूप से विद्यमान होता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि 'वर्णनात्मक और विवरणात्मक दोनों ही प्रकार के निबन्धों में कहीं विचारात्मकता की और कहीं भावात्मक की प्रधानता हो सकती है।' (गुलाबराय)

दूसरे शब्दों में, वर्णनात्मक और विवरणात्मक निबंधों में कल्पना की प्रधानता होते हुये भी विचार या भाव में से किसी एक का प्रधान संयोग हो सकता है। इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि विचारात्मक और भावात्मक का भी मिश्रण हो जाय।

निबन्धो की शैलियाँ—उक्त सभी प्रकार के निबन्धों की पृथक्-पृथक् शैलियाँ देखने को मिलती हैं। प्रधान रूप से निबन्धों की दो शैलियाँ—

(१) समाज-शैली-आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की है। इस शैली का उपयोग प्रधानतया विचारात्मक निबन्धों में होता है। विचारपूर्ण निबन्धो का आदर्श आचार्य शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य का इतिहास में इस प्रकार लिखा है—

'शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वहीं जा सकता है,

जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबाकर कसे गये हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार-खण्ड को लिए हों।'

वास्तव में यह आदर्श विशेषत: समास-शैली का ही है। समास प्रधानशैली में गागर में सागर भरने की' अर्थात् थोड़े में बहुत कहने की प्रवृत्ति होती है। यों शुक्ल जी का उक्त विचारात्मक निबन्धों की व्यास-शैली में भी यथासम्भव पालनीय है।

(२) व्यास-शैली—जैसी डॉ० श्यामसुन्दरलाल की है। यह शैली विचारात्मक निबन्धों में भी बहुत पायी जाती है, क्योंकि सभी विचारपूर्ण निबन्ध.समाज शैली में भी नहीं लिखे जा सकते और न सभी लेखक ही ऐसा करने में समर्थ हो सकते हैं। व्यास शैली की यह विशेषता है कि इसमें वस्तु को उचित विस्तार या फैलाव के साथ समझा-समझाकर कहने की प्रवृत्ति होती है यही कारण है कि यह समास-शैली सामान्य पाठकों के लिए अधिक सुबोध और रोचक होती है। समास-शैली के निबन्ध विशिष्ट पाठकों के लिए ही होते हैं, सामान्य पाठकों के लिए वे क्लिष्ट जान पड़ते हैं अत: वे उनका अध्ययन करने से कतराते हैं दूर भागते हैं।

विचारात्मक निबन्धों—वर्णनात्मक एवं विवरणात्मक—में प्राय: व्यास शैली का ही प्रयोग-उपयोग होता है भावात्मक निबन्ध की शैली भी व्यास शैली ही होती। किन्तु भावावेश की अधिकता या कमी के कारण उनके कई रूप हो जाते हैं।

भावात्मक निबंधों की शैलियों के संबंध में डा० भगीरथ मिश्र ने अपने 'काव्य-शास्त्र' में लिखा है—'भावात्मक निबन्धों की तीन शैलियाँ देखी जाती है—धारा-शैली और विक्षेप या तरंगशैली और प्रलाप शैली।' किन्तु गुलाबराय जी लिखते है—'भावात्मक निबन्धों में प्राय: तीन प्रकार की शैलियाँ होती है—एक धारा शैली, दूसरा तरंग शैली और तीसरी की विक्षेप शैली।'

इन दोनों मतों को देखने पर ऐसा लगता है कि गुलाबराय जी तरंग और विक्षेप को पृथक-पृथक दो शैलियाँ कहते हैं और डॉ० मिश्र

इन दोनों को एक ही मानते हैं तथा तीसरी शैली [विक्षेप[के स्थान पर प्रलाप शैली का नाम प्रस्तुत करते हैं। हम यहाँ इन दोनों मतों के आधार पर इन शैलियों का परिचय दे रहे हैं—

१. धारा शैली—डा० मिश्र के शब्दों में—'धारा शैली में मंथर गति से संयत शब्दावली में भाव का धारा प्रवाह प्रकाशन होता है।' गुलाबराय जी के शब्दों में धारा शैली में भावों की प्रवाहमयता रहकर प्राय: एक गति से चलती है। अतः दोनों कथनों के ही भाव हैं।

२. तरंगशैली—डा० मिश्र के अनुसार—'विक्षेप या तरंग शैली में भावों का प्रकाशन कहीं वेग से होता है, कहीं मन्थर गति से। भावों का प्रकाशन तरग मौज या मस्ती से होती है' जिससे भावों का अनुभव तीव्र और मन्द रूप में होता है। बाबू गुलाबराय के अनुसार—'तरंग शैली मे वे भाव लहराते हुए से प्रतीत होते हैं तरंग की भाँति वे उठते और गिरते होते हैं।' यहाँ भी दोनों मतों में एकता है केवल विक्षेप नाम का मतभेद है।

३. प्रलाप शैली इसे ही गुलाबराय जी विक्षेप शैली कहते हैं। उनके अनुसार 'विक्षेप शैली में वह (भावधारा) कुछ-कुछ उखड़ी हुई रहती है, उसमें तारतम्य और नियन्त्रण का अभाव रहता है।' डा० मिश्र के अनुसार—'प्रलाप शैली अति भावावेश की उच्छृंखल अवस्था में होती है इसमें लेखक भावों के प्रकाशन में एक छटपटाहट और व्याकुलता का अनुभव करता है और भावों की अनर्गल अभिव्यक्ति भी पुनरोक्ति के कारण इस शैली में होती है' इस स्थान पर भी दोनों मतों में समानता ही है। केवल नामकरण का ही भेद है।

गुलाबराय जी ने आगे इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि शेष शैली मे जब भावावेश का वेग मर्यादा से बाहर होने लगता है व उसमें उच्छृंखलता सी आ जाती है और वह प्रलाप की कोटि में गिनी जाती है। विक्षेप और प्रलाप शैली में मात्रा का ही अन्तर है।'

अब उपर्युक्त विवेचन के साथ ही एक बात और जान लेने की है

वह यह है कि निबन्धों के [उक्त चारों प्रकार के निबन्धों के] अन्तर्गत हास्य व्यंग्यात्मक लेख भी आ जाते हैं वे विषयानुकूल या तो भावात्मक बातें की संज्ञा प्राप्त करेंगे या विचारात्मक की। कुछ विद्वान हास्य व्यंग्यात्मक लेखों की एक अलग विधा मानते हैं किन्तु ऐसा मानना न तो महत्वपूर्ण है और न उपयोगी ही।

शैलियों को भी ऊपर शब्द संगठन की दृष्टि से समाज एवं व्यास पर भाव प्रकाशन की मात्रा तथा गति की दृष्टि से ही विभाजित किया है किन्तु इनके विभाजन के अन्य आधार भी हो सकते हैं जैसे—

[१] व्यक्ति प्रधान और [२] निर्वैयतिक [अभिव्यक्ति की दृष्टि से] अथवा [१] संस्कृत तत्सम प्रधान और [२] उर्दू तथा तद्भव प्रधान [शब्द प्रयोग की दृष्टि से]।

अच्छी शैली के गुण—ऊपर सकेत किया जा चुका है कि शैलियाँ कई प्रकार की हो सकती हैं और उनका विभाजन भी कई आधारों पर हो सकता है। हम देखते हैं कि किसी में तो तत्सम शब्दों की अधिकता होती है किसी में तद्भव और बोल चाल के शब्दों की और कहीं-कहीं उर्दू, अंग्रेजी आदि के शब्द भी मिश्रित रूप में प्रयुक्त होते हैं। शब्दों के प्रयोग का प्रश्न विषय की दृष्टि से और पाठक की दृष्टि से भी जुड़ा हुआ है। कठिन विषय पर लिखे गए निबन्ध की शैली प्राय: तत्सम और पारिभाषिक शब्दों से बोझिल, फलत: दुरूह होती है। लेखक को ऐसे निबन्धों में प्रसाद गुण लाकर और भाषा को प्रवाहमयी बनाकर अधिक बोधगम्य तथा उपयोगी बनाने की ओर ध्यान देना चाहिए।

शैली के आन्तरिक गुण चार हैं—

[१] क्रम [२] संगति [३] संगठन और [४] अन्विति।

इन चारों गुणों से युक्त शैली ही अच्छी कही जाती है। लेखक को इस तथ्य का सदैव स्मरण होना चाहिए कि 'शैली में भी अनेकता में एकता उत्पन्न करना वांछनीय रहता है' [गुलाबराय]। वाक्य सम्बन्धी शैली की विशेषता यह है कि निबन्ध के एक-एक वाक्य में—

(१) आकांक्षा हो—अर्थात् एक शब्द दूसरे की प्रतीक्षा करता हुआ प्रतीत हो और वाक्य की पूर्ति अन्त में हो। ऐसे वाक्य को अंग्रेजी मे (Period) वाक्योच्चय कहते हैं। प्रत्येक शब्द में—

(२) योग्यता हो—अर्थात् शब्द एक दूसरे के अनुकूल हों। और सार्थक एवं उपयुक्त हों—

(३) सभी शब्द—अर्थात् उनमें अर्थ देने की क्षमता, पद मैत्री और उतार चढ़ाव का होना आवश्यक है—उतार चढ़ाव भाव का भी और ध्वनि का भी जैसे बड़े शब्द पीछे आने चाहिए। इन गुणों की शैली की प्रसादमयता बढ़ जाती है। कहीं कहीं मुहावरों का प्रयोग, हास्य व्यंग का पुट आदि भी अर्थ को अधिक स्पष्ट करने के लिए प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति रोचकता और सुबोधता अर्थात् चलती हुई शैली के लिए आवश्यक है। लक्षणा व्यंजना आदि का भी सहारा लेना चाहिए। किन्तु अधिक नहीं। अत्यधिक अलंकारों के प्रयोग से शैली को बोझिल नहीं करना चाहिए, यद्यपि अलंकृत शैली भी निर्बाध शैली हो सकती है। तुकबंदी पुनरावृत्ति और अनावश्यक शब्द-जाल से बचना भी आवश्यक है।

प्रश्न ४१—साधारण और ललित निबन्ध का क्या अभिप्राय है? निबंधों के प्रकारों का ध्यान रखते हुए स्पष्ट कीजिए।

साधारण निबन्ध—वे हैं जो या तो वर्णन और विवरण से सम्बन्ध रखते हैं अथवा विचार से। इस दृष्टि से वर्णनात्मक, विवरणात्मक और विचारात्मक निबन्ध—साधारण निबंध की कोटि में आयेंगे। किन्तु, विचारात्मक निबन्ध में यदि भावात्मकता भी पर्याप्त है, तो उसे साधारण नहीं कहेंगे।

ललित निबन्ध—वे हैं, जिनमें लालित्य होता है। लालित्य भाव का भी हो सकता है और भाषा-शैली का भी। अत: भावात्मक निबन्ध ललित निबन्ध की कोटि में रखे जायेंगे। हास्य-विनोद व्यंग्यात्मक लेख भी इसी सीमा में आयेंगे—यदि उनमें भाव की प्रधानता हो तो, नहीं तो उन्हें अलग स्थान देना होगा। भाषा-शैली के लालित्य से तात्पर्य यह है कि शैली

चलती हुई हो। उसमें मुहावरों तथा मर्मस्पर्शी उक्तियों का भी यत्र-तत्र प्रयोग हो और कहीं-कहीं ध्वन्यात्मक शब्दावली, अलंकरण और हास्य-व्यंग्य का पुट भी हो। किन्तु इनमें से कोई सामग्री | अधिक या प्रधान न हो, ताकि लालित्य की सुरक्षा के लिए प्रसादमयता बनी रहे। इस तरह की सरस शैली में लिखित निबन्ध को ललित निबन्ध कह सकते हैं।

निबन्धों के प्रकार का परिचय पिछले प्रश्न में है। अतः यहाँ उसका उल्लेख अभीष्ट नहीं है। पाठक शेष सामग्री वहीं से ग्रहण कर सकते है।

प्रश्न ४२—नाटक की परिभाषा पाश्चात्य एवं भारतीय मतों का सन्दर्भ देते हुए स्पष्ट कीजिए। साथ ही उसकी व्याख्या एवं महत्व का भी उल्लेख कीजिए।

काव्य का विभाजन कई आधारों पर किया गया है, उनमें से एक आधार इन्द्रियों का माध्यम। इस आधार पर काव्य के दो भेद हैं—

(१) श्रव्य या पाठ्य और (२) दृश्य।

१. श्रव्य-काव्य—पाठ्य या गेय भी होता है, हो सकता है, अतः आजकल इसे पाठ्य-काव्य भी होता है, क्योंकि मुद्रणकला के पूर्व जो काव्य दृश्य न होकर सुने ही जा सकते थे, काव्य कहे जाने लगे, किंतु अब मुद्रण की सुविधा से उन्हें पाठ्य-काव्य की संज्ञा भी देना भी उचित ही है। इस प्रकार जो केवल सुना जाय अथवा पढ़ा जाय या गाया जाय, वह श्रव्य या पाठ्य-काव्य है।

२. दृश्य-काव्य—जो सुनने या पढ़ने के अतिरिक्त अभिनय द्वारा प्रदर्शित भी किया जाय और इस प्रकार जिसका आनन्द न केवल सुनकर पढ़कर ही लिया जाय, वरन् देखकर भी प्राप्त किया जा सके, वह दृश्य काव्य है। दृश्य काव्य को ही आजकल 'नाटक' कहते हैं। इसे ही रूपक भी कहा गया है।

'दृश्य-काव्य या नाटक या रूपक' की व्युत्पत्ति एवं परिभाषा का संक्षिप्त विवेचन अधोलिखित है—

व्युत्पत्ति एवं परिभाषा—स्पष्ट है कि दृश्य में कर्णेन्द्रिय की तुलना

में नेत्रेन्द्रिय का महत्त्व है। दूसरे शब्दों में दृश्य काव्य का सम्बन्ध कानों से भी है। (उसे सुना जा सकता है और पढ़ा भी जा सकता है) किन्तु उसकी सार्थकता अभिनय के विविध दृश्यों को देखने में है और यह नेत्रेंद्रिय पर ही निर्भर है। यही कारण है कि इसे दृश्य काव्य की संज्ञा दी।

अतः अभिनयशील काव्य ही दृश्य काव्य है और इसे ही संस्कृत भाषा में अथवा शास्त्रीय परिभाषा में रूपक कहा गया है तथा पाश्चात्य साहित्य में इसे ड्रामा (Drama) नाम दिया गया है। इन नामों के पर्याय रूप में आजकल हिन्दी में नाटक शब्द का व्यवहार हो रहा है। वैसे शास्त्रीय दृष्टि से दृश्य काव्य के दो भेद हैं-[१] नाटक और [२] रूपक फिर रूपक के १० भेद किए गए हैं—नाटक, भाण, प्रकरण, व्यायोग, समवकार, डिम, वीथी, अंक और ईहामृग। इस प्रकार नाटक दृश्य काव्य के भेद का भी भेद यानी दृश्य काव्य का एक उपभेद हुआ। किन्तु आज कल इसकी व्यापकता इतनी है कि यह शब्द (नाटक) दृश्य काव्य या रूपक का पर्याय हो गया है। इन दोनों की व्युत्पत्ति या शब्दार्थ भी एक ही है।

रूपक के सम्बन्ध में कहा गया है—'तद्वारोपात्तु रूपकम्' अर्थात एक व्यक्ति का दूसरे पर आरोप करना ही रूपक है नट पर जब अन्य पात्रो का आरोप किया जाता है तो रूपक का दृश्य काव्य के अन्तर्गत अभिनय की प्रधानता रहती है और यह अभिनय ही नाटक है।

बाबू गुलाबराय ने भी कहा—'अभिनय को ही नाटक कहते हैं।' डा० भगीरथ मिश्र लिखते हैं—'रूपक के भेदों में नाटक ही सबसे प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण भेद है इसमें नाट्य शास्त्र के अधिकांश अभिनय सम्बन्धी लक्षणों का समावेश हो जाता है।' यही साहित्य दर्पण की मान्यता है। दूसरे शब्दों में दृश्य काव्य या रूपक या नाटक में भी अभिनय ही प्रधान है। अभिनय करने वाला है नट जिसे अभिनेता भी कह सकते हैं। नट का अभिनय ही नाट्य है, जिसे दशरूपक में यों परिभाषित किया गया है—'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' अर्थात 'विभिन्न-विभिन्न समस्याओं की अनुकृति ही नाट्य है।'

'दशरूपक' में ही एक और स्थान पर लिखा—'भावानुकृतिर्नाट्यम्' र्थात् 'भावों की अनुकृति नाट्य है।' 'सिद्धांत कौमुदी' के रचयिता ने खा है—'वाक्यार्थाभिनयो नाट्यम्।' अर्थात् 'वाक्यार्थ का अभिनय ही ट्य है।' अभिनय अनुकृति या अनुकरण है, इसमें संदेह नहीं। इन धार- ओं से नाटक के भीतर पूर्णतः अनुकृति या अभिनय की ही मूल सत्त त होती है। दूसरे शब्दों में अवस्था, भाव, वाक्यार्थ आदि का अनुकरण अभिनय ही नाटक है।

भारतीय विद्वानों की धारणा यूनानी विचारक—दार्शनिक 'अरस्तू' काव्य संबंधी धारणा से साम्य रखती है। अन्तर यह है कि 'अरस्तू' व्य को (समग्र रूप में) जीवन की अनुकृति (Imitation of life) नते हैं, और भारतीय मत में अनुकृति केवल दृश्य काव्य या नाटक में है; नाटक के अन्य अंगों में नहीं।

नाट्य और नट—ये दोनों ही शब्द 'नट्' धातु से उत्पन्न है, जिसका र्थ है—सात्विक भावों का प्रदर्शन। इस प्रकार विभिन्न रूपों में यह तथ्य मने आता है कि 'नाटक' नट (अभिनेता और उसके प्रदर्शन या अभिनय) सम्बन्धित होने के कारण ही नाटकों की संज्ञा से अभिहित किया ता है।

व्याख्या या महत्त्व—कहा गया है—'काव्येषु नाटकं रम्यम्' अर्थात् टक काव्य-भेदों में रमणीय है। कहना न होगा कि काव्य में नाटक तना रमणीय है, उतना ही महत्त्वपूर्ण है साथ ही प्राचीन भी। यूनान र भारत दोनों ही प्राचीन सभ्यता के देशों में नाटक या दृश्य काव्य का कास बहुत पुराने समय से ही हो गया था। यही कारण है कि इसका यन्त सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन प्राचीन ग्रंथों में उपलब्ध है। भारत में व्य-शास्त्र का कहें या 'नाट्य-शास्त्र' का कहें, सबसे प्राचीन ग्रन्थ है— रत-मुनि' का 'नाट्य-शास्त्र' जिसमें नाटक के विविध अंगों का सांगो- ग विवेचन विस्तार के साथ किया गया है। 'भरतमुनि' ने नाट्य-शास्त्र नाट्य या दृश्य को पाँचवा वेद कहा है—

'न वेद व्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु ।
तस्मात् सृजापरंवेदं पञ्चम सर्ववर्णिकम् ॥'

नाटक में जनसाधारण (शूद्रादि सभी जाति-वर्ण के लोग) आ
ले सकते हैं क्योंकि यह दृश्य या अभिनय के दर्शन से ही प्राप्तव्य है।
प्रकार प्रताप-रुद्रीय, भाव प्रकाश, दशरूपक, साहित्य दर्पण, काव्य प्र
आदि विभिन्न ग्रंथ जो काव्य या साहित्य के शास्त्रीय विवेचन से सम
रखते हैं नाटक के विवेचन के लिये दृष्टव्य हैं।

नाटक या दृश्य काव्य में अभिनय की प्रधानता बताई गई है।
इसके भीतर कथावस्तु चरित्र तथा दृश्यों का इस प्रकार से संगठन
है उन्हें रंगमंच पर प्रदर्शित किया जा सके। इस दृष्टि से रूप
रचना कठिन होती है किन्तु इसका महत्वपूर्ण स्थान होने में कोई
नहीं। यह बात इससे भी स्पष्ट है कि अकेले नाटक ही काव्य के दो
में से एक (दृश्य काव्य) का प्रतिनिधित्व करता है जबकि दूसरे (
में अनेक विधाएँ सम्मिलित हैं। वस्तुतः नाटक की व्यापकता या वि
तथा इसकी सूक्ष्म विशेषताएँ ही इसके महत्व के कारण हैं।

व्यापकता—भरत मुनि का कथन इस दृष्टि से अवलोकनीय है

'न सा योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ।
सर्व शास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च ॥'

अर्थात् योग, कर्म सभी शास्त्र, सारे शिल्प (कथाएँ) और वि
कार्यों में ऐसा कोई नहीं है जो नाटक में न पाया जाय। दूसरे शब्दों
शास्त्रों और कलाओं की दृष्टि से नाटक का महत्व अधिक है।
सभी कलाओं का समावेश हो जाता है। स्थापत्य (भवननिर्माण क
चित्रकला संगीत नृत्य काव्य इतिहास समाज शास्त्र वेष-भूषा—
कपड़ों का रँगना आदि अनेक शास्त्रों और कलाओं का आश्रय नाटक
लिया जाता है।

रचनात्मक विशेषताएँ—साहित्य दर्पण के आधार पर डा० प
मिश्र ने लिखा है—'इसमें (नाटक में वीर अथवा शृंगार रस की
नता होनी चाहिये अन्य रस गौण रूप में आने चाहिये।······नाटक

कथानक प्रसिद्ध होती है। उसका नायक (आधिकारिक कथावस्तु का प्रधान पात्र) राजा महर्षि दिव्य अथवा दिव्यातिदिव्य कोई व्यक्ति है। वह धैर्य, गाम्भीर्य शौर्य त्याग आदि उदात्त गुणों से युक्त होता है। नाटक में अंकों की संख्या पाँच से दस तक मानी जाती है। दस या उससे अधिक वाले नाटक को महानाटक कहा जाता है।

नाटक में 'पंच-संधियाँ' होनी चाहिये और उसकी कथावस्तु का संगठन 'गोपुच्छाग्रवत्'—की पूँछ के अग्रभाग के समान होनी चाहिए जिस प्रकार गाय की पूँछ में प्रारम्भ में कम बाल होते हैं उसी प्रकार नाटक के कथानक का विकास संक्षिप्त वृत्त से होता है और बीच में व्यापक विस्तार तथा उसमें बहुसंख्यक प्रासंगिक कथाओं का समावेश होता है। जैसे अन्त में फिर पतली होकर पूँछ समाप्त हो जाती है उसी प्रकार बीच में बैठी हुई प्रासंगिक कथाएँ भी धीरे-धीरे समाप्त होती हुई अधिकाधिक कथा में तिरोहित हो जाती हैं और सबसे अन्त में अकेली वही रह जाती है। 'कार्यावस्थाओं, अर्थ प्रकृतियों और पंच संधियों द्वारा यह कार्य सम्पन्न होता है। इस प्रकार नाटक प्रभावशाली और पूर्णकृति होता है।'

—डा० भगीरथ मिश्र

प्रश्न ४३—एकांकी के उद्भव एवं विकास को दृष्टि में रखते हुए नाटक से इसका भेद समझाइए।

एकांकी या एकांकी नाटक—उद्भव एवं विकास—एकांकी नाटक केवल आधुनिक युग की देन है ऐसी बात नहीं। नाटक इतिहास पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि यूनानी नाटकों में आरम्भ के पूर्व और यवनिका (पर्दे) के अभाव में अंकों के बीच में उनको विभाजित करने के उद्भव उद्देश्य से जो छोटे छोटे नाटकीय दृश्य दिखाए जाते थे वे वस्तुत: एकांकी ही होते थे। वहीं से आधुनिक एकांकी का उदय माना जा सकता है। यह बात भी ध्यान देने की है जहाँ एक ओर समय की पूर्ति के लिये अथवा थोड़े समय के मनोविनोद की दृष्टि से एकांकी नाटकों की आवश्यकता प्रतीत हुई; वहीं उनके विकास में समय की बचत की मनोवृत्ति भी रही। वस्तुत: १८वीं सदी में ही मर्मा . युग के मा व के पास समवाभाव

रहने लगा कई अंकों के नाटकों या महानाटकों को देखने में समयाभाव तथा अन्य प्रकार की कठिनाइयों के साथ ही दर्शकों का मन भी ऊब जाता था। फलतः एकांकी (एक अंक वाले) नाटकों का स्वाभाविक विकास होता गया और आजकल इस विधा को तो बहुत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया है।

ऐसे ही संस्कृत में भी रूपकों के दस प्रकारों में पांच अर्थात् आधे एकांकी ही थे—भाण. अंक. व्यायोग. वीथी. और प्रहसन। संस्कृत के ये एकांकी विश्व साहित्य में सम्भवतः सबसे प्राचीन कहे जा सकते हैं। फिर भी आधुनिक एकांकी नाटको का विकास पाश्चात्य प्रेरणा की देन है—ऐसा माना जाता।

चौदहवीं पंद्रहवीं शदी में पश्चिम साहित्य में 'इण्टरल्यू' और भावना नाटक' एकांकी रूप में ही लिखे गये—बाद में अठारहवीं शताब्दी मे अनेक 'फर्स' और 'बारलेक्स' एकांकी नाटकों के रूप में लिखे गये। यह शताब्दी यन्त्र युग की क्रांति वाली शताब्दी थी। नाटकों के प्रारम्भ में समय पूर्ति के लिए जो नाटक लिखे जाते थे 'उन्हें यवनिका कस्थापक' या कर्टेन-रेजर कहते थे। आगे चलकर रसी पृष्ठभूमि पर इब्सन (नर्वे का नाटककार) के द्वारा एकांकी नाटकों का नबी रूप सामने आया और विकास की ओर सामने बढ़ने लगा। उन्नीसवीं शदी में. जार्ज बर्नार्ड शॉ नहीं अन्य पाश्चात्य भाषाओं में भी एकांकी नाटकों की पर्याप्त रचना की जाने लगी।

भारत में अन्य नयें साहित्यक उपादानों की तरह सबसे पहले बंगला ने ही यूरोप के इस नये नाटकीय रूप—एकां—की अपनाया और कवीन्द्र रवीन्द्र ने कई एकांकी प्रस्तुत किये। फिर बंगला तथा अनेक भारतीय भाषाओं में एकांकियों की रचना होने लगी। इस तरह बीसवीं शदी में ही हिन्दी में भी एकांकी नाटक एक नया जीवन एक नई टेक्कनीक एवं एक नई विधा लेकर आये अब तक हिन्दी का नाट्य साहित्य बहुत कुछ सम्मृद्ध हो चुका है।

आजकल एकांकी नाटकों की रचना एवं प्रबंधन की स्थिति इतनी

णाम है कि वे लोक-प्रियता प्राप्त करने में नाटक से भी आगे हैं। किन्तु
ई विधा से अभी तक एकांकी नाटक की पूर्ण या विस्तृत व्याख्या या
मीमांसा नहीं हो सकी है : यद्यपि इन पर गम्भीर एवं सतर्क दृष्टि से
अध्ययन कार्य जारी है।

नाटक और एकांकी का अन्तर—उपर्युक्त कठिनाई के बावजूद भी
नाटक और एकांकी का अन्तर अब तक की उपलब्ध सामग्री के आधार
र निम्नलिखित हैं—

१. एकांकी और नाटक मे पहला अन्तर है—आकार का नाटक
म से कम ५ अंकों का होता है और एकांकी केवल एक अंक का ही
ाटक है।

२. आकार के भेद से प्रकार भेद सम्बन्ध रखता है। नाटक की
चना में एकांकी में अपेक्षाकृत पात्र कम होते हैं और संकलनत्रय
(Three units—स्थान, काल और कार्य की एकता) का भी कुछ अधिक
विधा से पालन होता है।

३. गुलाबराय जी के शब्दों में—'वर्तमान एकांकियों में प्राचीन
एकांकियों के से रस-पात्र और संधियों आदि के नियम नहीं बरते जाते
। वे अधिकांश में पाश्चात्य के अनेक रचे जाते हैं।' इस कथन से स्पष्ट
कि आधुनिक एकांकी प्राचीन एकांकियों से अपने कला विधान में अलग
और जब प्राचीन एकांकियों में यह अन्तर है तो नाटक से इसकी
भिन्नता और अधिक बढ़ जाती है। दूसरी बात यह भी है कि पाश्चात्य
शिल्प के सहारे ही आधुनिक एकांकियो का सर्जन और प्रदर्शन किया
जाता है। अतः नाटक से इनकी पृथक सत्ता अनिवार्य रूप से मान्य है—
नाटक चाहे भारतीय हों चाहे पाश्चात्य चाहे पुराने हों चाहे नये—उनकी
रचना-विधि एकांकियों मे सर्वथा भिन्न है।

४. रचना-विधि की दृष्टि से देखें तो एकांकी नाटक की रचना में
कुछ ऐसे साधनों की आवश्यकता है जो अब तक के नाटकों में न आव-
श्यक थे और न अब तक के नाटककारों को उनका ज्ञान था।

इस सम्बन्ध में श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' और योगेन्द्र कुमार मल्लिक ने अपनी पुस्तक 'साहित्य विवेचन' में लिखा उसे इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

(अ) भूमिका—प्रवेश का विस्तृत विवरण तथा मंच स्थान, समय स्थिति, पृष्ठभूमि, फर्नीचर की सजावट तथा पात्रों की वेष भूषा आदि का उल्लेख वर्तमान एकांकी नाटक की एक प्रमुख विशेषता है। नाटक का यह मार्ग नाटककारों द्वारा चारित्रिक विश्लेषण के लिये प्रयुक्त किया गया है। नाटक की गहराई और परिधि की रूपरेखा प्रस्तुत करने में भी इस भाग ने विशेष योगदान दिया है। परिस्थितियों की गम्भीरता अथवा पिछली घटनाओं के संक्षिप्त उल्लेख के लिये भी इस भाग को उपयोग में लाया गया है इन कारणों से यह भाग को नाटककार से विस्तृत अध्ययन संचयन, सूक्ष्म विश्लेषण, सम्पादन, सजावट और संक्षिप्त निरूपण की माँग कर सकता है। जितना ही महान नाटककार होगा, यह भाग उतना ही सफल बन सकेगा और एकांकी भी उतनी ही असफलता प्राप्त कर सकेगा। सम्भवतः यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि पाठकों के ऊपर अच्छा प्राथमिक प्रभाव डालने के लिए नाटक के इस भाग के ऊपर विशेष ध्यान देना चाहिए।

यह भूमिका केवल आकर्षक न होकर संक्षिप्त भी जरूरी है। इस विषय में यही अमूल्य नियम है कि कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भाव भर दिया जाय।

दूसरी ओर यह भाग नाटककारों को कुछ लाभ भी पहुंचाता है। इस स्थल पर वह सब कुछ कहने के लिए स्वतन्त्र है। जिस बात को अन्यथा सिद्ध करने में बहुत सा सम्वाद प्रयुक्त करना पड़ता है, उसी बात को यहाँ सीधे रूप में स्पष्ट किया जा सकता है।

पुराने नाटकों में दृश्यों की सज्जा नहीं होती थी और न अन्य आधुनिक उपाय ही प्रयुक्त किए जा सकते थे। इसी कारण नाटककार समय, स्थिति, जलवायु तथा दृश्यों की अन्य बातों को स्पष्ट करने के लिए

व पर ही अवलम्बित रहता है। एकांकी नाटकों में आधुनिक रंग-
व उपायों के अतिरिक्त यह पृथक स्थिति-विवरण वाला अंग नाटक-
को इस पर्याप्त अवसर प्रदान कर देता है कि वह और श्रोताओं के
की दूरी कम कर सके।

(ब) सम्वाद—आधुनिक एकांकी नाटकों के संवादों के विषय में भी
कहना उपयोगी है। उनकी भी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। छन्द
या मुक्तक छन्दों का उपयोग तो एकांकी नाटकों में कभी स्थान न
त कर सका। संसार में सबसे सुन्दरतम एकांकी नाटक गद्य में ही
े गये हैं। गद्य के उपयोग के समय इस बात का ध्यान रखा गया है
जहाँ तक सम्भव हो बोलचाल की भाषा को साहित्यकार गम्भीर
ा से अधिक स्थान दिया जाय। किन्तु यह सदैव ध्यान में रखना
हिये कि ठेठ देहाती बोली का उपयोग नाटक की गम्भीरता को नष्ट
देगा। अतएव भले ही पात्र-विशेष की चारित्रिक योजना इस प्रकार
भाषा के उपयोग की माँग करती हो, इसे कभी परिहार्य नहीं कहा
सकता। एकांकी नाटक के संवाद को यथासम्भव सरल, प्रभावपूर्ण,
ष्ट और संक्षिप्त होना चाहिये। एकांकी की सीमाएँ कभी भी व्या-
नों को सहन नहीं करतीं, यह सदैव ध्यान में रखना चाहिये।

(स) तत्व संगठन—यह बात भी कभी भूली नहीं जा सकती कि
ांकी नाटक अपेक्षाकृत थोड़े से जीवन काल की घटनाओं का लेखा-
ा है। बाबू गुलाबराय के शब्दों में 'जो सम्बन्ध उपन्यास की छोटी
ानी से है वही नाटक एकांकी का है। यह भी कहानी की भाँति जीवन
एक झलक है।' इस कारण इसकी विशेषताएँ हैं। यदि बड़े नाटक
विस्तृत उद्यान कहा जाय तो एकांकी नाटक को एक गुलदस्ता कहा
यगा। यहाँ पात्र थोड़े से समय के लिये आते हैं, क्षण भर के लिये
रते हैं और विलीन हो जाते हैं। अतएव एकांकी नाटक में उनको
न्त चमत्कारिक रूप में प्रस्तुत करना चाहिये। उनके प्रत्येक शब्द के
पे के पूर्व नाटककार को गम्भीर रूप से सोच लेना चाहिये।

परन्तु फिर भी कला का प्रस्फुटन होकर अस्फुट बना रहना ही श्रेय है। अतएव प्रयत्न यह होना चाहिये कि यह प्रकट न हो कि प्रत्येक वा... ने सोच-सोचकर लिखा गया है। उन्हें स्वाभाविक होना चाहिए। पा... के प्रत्येक अभिनय पर भी ध्यान देना चाहिये।

यही बात कथानक और संगठन विषयों में भी कही जा सकती है। बहुत कुछ वस्तु निर्वाचन और प्रतिपादन पर निर्भर है। अतएव यह स्प... है कि एकांकी नाटक की प्रणयन-कला नाटककार से पूर्ण नाटक की तुलना में कहीं अधिक कला माँग कर रही है।

सारांशत: नाटक परिवार में एकांकी नाटक की कला निश्चय ही नवीनतम और अंग्रेजी के प्रभाव से ही हिन्दी में इसका प्रचलन हुआ है। थोड़े समय में ही एकांकी अपने आप को आकर्षक बना सकने में सफल हुआ है गुलाबराय के शब्दों में—'हिन्दी में आजकल एकांकी नाटकों का प्रचलन बढ़ रहा है। इसके दो कारण हैं—एक समय की बचत और दूसरा अभिनय की अपेक्षाकृत सुलभता।

प्रश्न ४४—एकांकी नाटकों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का उल्लेख करते हुये उसकी कला एवं विधान की व्याख्या कीजिये।

एकांकी का उद्भव एव विकास बताया जा चुका है। उस अंश से ही एकांकी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि समझें। एकांकी की कला एवं विधा... सम्बन्धी सारी बातें उसी प्रकार के उत्तर मे नाटक एवं एकांकी में अन्तर बताते समय चौथे प्वाइण्ट के अन्त तक (अन्तिम पैराग्राफ को छोड़कर) स्पष्ट की गई है। पाठक इसे भी वहीं से समझने का कष्ट करें। पिष्ट-पेषण से बचने के लिये संकेत देकर हम अगले प्रश्न के उत्तर की ओर बढ़ रहे हैं।

प्रश्न ४५—भारतीय एवं पाश्चात्य मतों के अनुसार नाटक के तत्वों का उल्लेख करते हुये नाटक की 'कथा' वस्तु के विभिन्न अंगों का सम्ब...

परिचय दीजिये।

हमारे यहाँ के आचार्यों ने वस्तु नायक (पात्र) और रसों के आधार पर रूपकों का वर्गीकरण किया गया है—'वस्तु नेता रसस्तेषां भेदक।' यह दशरूपक का उल्लेख है। दूसरे १—वस्तु (कथावस्तु या कथानक) २—नेता (नायक पात्र) और ३—रस—ये तीन प्रमुख तत्व नाटकों (रूपक) में मान्य हैं। इसमें अभिनय का नाम इसलिये नहीं लिया गया कि वह तो सभी में सम्मिलित रूप में वर्तमान रहता है। नाट्यशास्त्र में अभिनय के चार प्रकार बताये गये।

१—आंगिक या कायिक, २—वाचिक, ३—आहार्य (वेश-भूषा आदि) और ४—सात्विक। कथोपन का तत्व वाचिक अभिनय में ही सम्मिलित हो जाता है। रंगमंच का सम्बन्ध भी अभिनय से ही सम्बद्ध है। इस प्रकार का विश्लेषण करके देखा जाय तो भारतीय मतानुसार नाटक में ४ तत्व हैं—१-वस्तु २-नेता ३-रस और ४-अभिनय। वृत्ति को भी पाँचवाँ तत्व कह सकते हैं। वृत्तियाँ एक से क्रिया-प्रधान शैलियाँ ही हैं। और वे ही अभिनय के अन्तर्गत ही सम्मिलित हो जाती है।

पाश्चात्य विद्वानों ने पाश्चात्य नाटकों में जो तत्व गिनाये हैं वे हैं—१-कथावस्तु (Plot) २-पात्र ३-चरित्र चित्रण ४-देशकाल ५-कथोपकथन (अभिनय) ६—उद्देश्य तथा विचार और ७-शैली। इन तत्वों का समावेश उपर्युक्त भारतीय तत्वों में हो सकता है। पश्चिम का उद्देश्य-तत्व हमारे यहाँ रस संचार का रूप ले लेता है, क्योंकि पाश्चात्य नाटकों का उद्देश्य तथा विचार आधुनिक भारतीय नाटकों का भी सामाजिक समस्याओं को प्रस्तुत करना है, किन्तु हमारे यहाँ रस संचार ही नाटक या रूपक का उद्देश्य है। भारतीय मतानुसार नाटक काव्य है, अतः काव्य की आत्मा 'रस' ही उसकी भी आत्मा है। फिर भी अपनी विवेचना के लिये हम पाश्चात्य तत्वों के शीर्षकों का सहारा लेंगे और भारतीय मतानुकूल समन्वय करते हुये युक्तिसंगत विवेचना करेंगे।

१. वस्तु—कथावस्तु कथानक या (plot) आदि भी इसी के नाम हैं। नाटक की कथावस्तु उपन्यास कथावस्तु से भिन्नता रखती है। नाटककार न तो कथावस्तु का अधिक विस्तार कर सकता है और न अनावश्यक सामग्री का ही समावेश कर सकता है। उसे एक निश्चित मर्यादा के भीतर चलना होता है। अतः कथावस्तु की विस्तृत सामग्री से आवश्यक तथ्यों को छाँटकर संक्षिप्त कथावस्तु ही नाटक में प्रस्तुत की जाती है, जो ३-४ घण्टे में अभिनीत हो सके।

डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में—'कथावस्तु का संगठन नाटक का प्रमुख उद्देश्य है, क्योंकि इसमें केवल कथोपकथन और अभिनय द्वारा ही कथानक का उद्घाटन होता है अतः कथा संगठन अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है।

कथावस्तु के भेद—भारतीय आचार्यों ने कथावस्तु के भेद कई आधारों पर किये हैं और उनका सूक्ष्म विश्लेषण किया है। आकार की दृष्टि से कथावस्तु दो प्रकार की होती हैं—(१) आधिकारिक और (२) प्रासंगिक।

१. आधिकारिक—कथा ही मुख्य कथा होती है। यही नाटक का प्रधान या मूल अंग है। इसका सम्बन्ध नाटक के फलभोक्ता या अधिकार होता है। अतः इसे आधिकारिक नाम दिया है। इसका सम्बन्ध फल प्राप्ति के कार्य से है। अतः यह नाटक के प्रमुख पात्र (जिसे फल या अधिकारी) कहते हैं—'अधिकारः प्र फल स्वाम्यधिकारी च। दशरूपक) अथवा नायक का प्रश्रय ग्रहण किये रहती है। इस प्रकार आधिकारिक कथा एक ही होती है और आद्यंत चलती है।

२. प्रासंगिक—प्रसंगवश या गौण रूप से ही आने वाली कथाएँ प्रासंगिक होती हैं। इनका मुख्य उद्देश्य आधिकारिक (कथावस्तु) का विकास करना और उसके सौंदर्य-वर्धन में सहायक होता है। अतः डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में—'प्रासंगिक कथा का आधिकारी कथा के साथ ऐसा संगठन होना चाहिए, जिससे कहीं वह व्यर्थ न हो।'

बाबू गुलाबराय जी के शब्दों में—'प्रासंगिक कथावस्तु में फल-सिद्धि नायक के अतिरिक्त किसी और को [अन्य पात्र को] होती है। यह फल सिद्ध की अभीष्ट फल-सिद्ध से भिन्न होती है किन्तु उससे नायक का हित साधन अवश्य होता है।' स्मरणीय है कि 'प्रासंगिक-कथावस्तु का सम्बन्ध सीधा नायिका से न होकर अन्य पात्रों से रहता है।'

नाटक के सम्पूर्ण कथानक को रंगमंच पर नहीं दिखाया जा सकता अतः कुछ तो अभिनय द्वारा प्रदर्शित किया जाता है और कुछ [वर्जित] की सूचना दी जाती है। इस दृष्टि से भी कथावस्तु के दो भेद होते हैं—दृश्य और सूक्ष्म [औचित्य का आधार ही यहाँ लिया गया है]—

दृश्य—कथावस्तु को रंगमंच पर अभिनय द्वारा दिखाया जाता है।

सूक्ष्म की केवल सूचना भर दे दी जाती है। जैसे स्नान, भोजन, मृत्यु, राष्ट्रक्रांति आदि।

अर्थोक्षेपक—सूक्ष्म कथावस्तु के साधनों को 'अर्थोक्षेपक' कहते हैं। इसमें पाँच भेद किए गए हैं—१. विष्कम्भक, २. प्रवेशक, ३. चुलिका, ४. अंक मुख या अंकास्य और ५. अंकावतार।

१. विष्कम्भक—यह दृश्य है, जिसमें पहले हो जाने वाली या बाद में होनेवाली घटना की सूचना दी जाती है। यह केवल दो पात्रों का कथोपकथन होता है, इसमें प्रधान पात्र नहीं आते। विष्कम्भक नाटक के प्रारम्भ में या आरम्भ के दो अंकों के बीच में आ सकता है। विष्कम्भक भी दो प्रकार का होता है—[अ] शुद्ध और [ब] संकर [मिश्रित]। शुद्ध वह है जिसमें पात्र [पुरोहित, आमात्य, कंचुकि] आदि प्रथम श्रेणी के पात्र संस्कृत के साथ प्राकृत भी बोलते हैं। ये भेद संस्कृत नाटकों में मुख संधि में महत्वपूर्ण हैं। अब तो इनका ऐतिहासिक महत्व ही शेष है, वैसे आजकल भेदभाव न होने और प्रायः एक ही भाषा के प्रयोग के कारण निरर्थक से हो गये हैं।

१. प्रवेशक—दो अंकों के बीच के नाटक या प्रकरण के

मध्य संक्षेप में प्राकृत या बोलचाल की भाषा में निम्न श्रेणी के पात्रों द्वारा अभिनेन कथाभाग की सूचना देने का ढंग है।

३. चूलिका—जहाँ यवनिका (पर्दे) के पीछे से उत्तम मध्यम या निम्न श्रेणी के पात्रों द्वारा सूचना दी जाती है, चूलिका कही जाती है। संस्कृत के नाटककार इसे ही नेपथ्य में सांकेतिक कहते थे।

४. अंकावतार—जहाँ पात्रों को बिना परिवर्तन के पहले अंक की कथा आगे या अगले अंक की ओर बढ़ा दी जाती अर्थात पहले अंक में काम करने वाले पात्र बाहर जाकर रंगमंच पर आकर अगले अंक की सूचना देते हैं वह अंकावतार माना गया है।

५. अंकास्य या अंकमुख—जहाँ किसी अंक अभिनय की समाप्ति पर आगे आने वाले अंक की कथा की सूचना दी जाती है—समाप्ति पर बाहर जाने वाले पात्र अगले अंक की कथा की सूचना दे जाते हैं, इस प्रकार पीछे और आगे के अंकों की संगति मिला दी जाती है, वही अंकास्य या अंकमुख कहा जाता है।

कथावस्तु के स्रोत या आधार के विचार से तीन भेद किये गये हैं-

१. प्रख्यात २. उत्पाद्य एवं ३. मिश्र।

१. प्रख्यात—कथावस्तु वह है जिसका आधार इतिहास पुराण या परम्परागत जन-श्रुति होती है।

उत्पाद्य—कथावस्तु नाटककार की कल्पना की उपज होती है अत वह उत्पाद्य या कल्पित भी कही जाती है।

३. मिश्र—कथावस्तु वह है जिसमे इतिहास और कल्पना दोनों का मिश्रण होता है किन्तु कल्पना की मात्रा सीमित है ताकि इतिहास की मौलिकता सुरक्षित रहे। कल्पना द्वारा कथावस्तु को सरल और सशक्त बनाने के उद्देश्य से प्रासंगिक बातों में थोड़ा बहुत यथावश्यक परिवर्तन किया जा सकता है। आजकल तक ही अधिक प्रथम मे ऐसा प्रचलित है किन्तु आधुनिक सामाजिक नाटक उत्पाद्य की श्रेणी में आते हैं।

कथा—संगठन कार्यावस्थाएँ—नाटक में फल प्राप्त के उद्देश्य से

किया जानेवाला व्यापार कार्य है जिसका विस्तार आदि से अन्त तक होता है इस विस्तार के पाँच भाग हैं जिन्हें पाँच कार्यावस्थाएँ कहते हैं—

१. प्रारम्भ २. प्रयत्न ३. प्राप्त्याशा ४. नियताप्ति तथा ५. फलागम।

१. प्रारम्भ—जिस अवस्था में मुख्य फल की प्राप्ति के लिये औत्सुक्य जाग्रत होता है वह प्रारम्भ है। यह कथानक का प्रारम्भ है।

२. प्रयत्न—या यत्न की अवस्था में इच्छापूर्ति या फल-प्राप्ति के लिये शीघ्रतापूर्वक उद्योग किया जाता है।

३. प्राप्त्याशा—वह अवस्था है जहाँ शंका और बाधाओं के साथ किंचित फल-प्राप्ति की आशा बँधती है या सम्भावना दिखाई देने लगती है।

४. नियताप्ति—की अवस्था में फल प्राप्ति का निश्चय हो जाता है परन्तु कार्य व्यापार चलता रहता है। यहाँ सम्भावना कहीं निश्चयता आ जाती है।

५. फलागम—की अवस्था ही उद्देश्य की पूर्ति की अवस्था है। इस अवस्था में सभी अभिलाषित फल प्राप्त हो जाते हैं।

यहाँ यह ध्यान रखने की बातें हैं कि उक्त अवस्थाएँ कथावस्तु के विकास में सहायक हैं। इसके सम्बन्ध में उक्त मत तो भारतीय आचार्यों का है किन्तु पाश्चात्य आचार्यों का इससे भिन्न मत है।

पाश्चात्य दृष्टिकोण—अरस्तू के पोइटिक्स के अनुसार नाटक की पाँच अवस्थाओं (stages of action) का क्रम इस प्रकार है—

१. Exposition—व्याख्या। २. Incident—संघर्षमय घटना। ३. Crisis—चरम सीमा। ४. Denoument—उत्तर। ५. Catastrophe—अन्त या परिणाम।

१. व्याख्या (exposition)—हमारे यहाँ की प्रारम्भ की अवस्था की ही भाँति है जिसमें कथावस्तु के अंग का इस प्रकार उद्घाटन होता है कि औत्सुक्य जाग्रत हो।

२. संघर्षमय घटना (Incident) इसे गुलाबराय जी ने प्रारम्भिक संघर्षमय घटना (Intial Incident, कहा है और बताया है कि संघर्ष आंतरिक और बाह्य दोनों हो सकता है। वस्तुतः 'यह संघर्ष और अंतद्वंद्व की अवस्था से साम्य रखती है।' (डा० भगीरथ मिश्र) इसे कुछ लोगों ने 'विकास' भी कहा है।

३. चरम सीमा (Crisis)—में संघर्ष घनीभूत हो जाता है और बाधाएं अपनी चरम सीमा तक पहुंच जाती हैं इसमें चरम उत्कर्ष या Climax की अवस्थ रहती है, वहीं से संघर्षशील पक्षों में किसी एक की विजय प्रारम्भ हो जाती है। यह हमारे यहाँ की 'प्राप्त्याशा' के समान है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि बाबू गुलाबराय ने Crisis के पूर्व एक और अवस्था का उल्लेख किया है, वह—चरम सीमा की ओर बढ़ना (Rising Action) 'जिसमें द्वन्द्व, संघर्ष या समस्या स्पष्टता को पहुंच जाती है। इसके बाद ही वह पराकाष्ठा पर पहुंचती है।

४. उतार (Denoument, डिनोमा या डन्यूमाँ —हमारे यहाँ की नियताप्ति से साम्य रखती है। इसमें संघर्ष क्षीण हो जाती है। यह उतार (Folling Action) की अवस्था होती है जिसमें कार्य की ओर झुकाव होता है। यहाँ किसी एक पक्ष की विजय हो जाती है, क्योंकि संघर्षरत दो पक्षो में एक पक्ष हीन हो जाता है।

५. अन्त या परिणाम Catastrophe)—वह अवस्था है, जिसमें सर्वनाश सम्पन्न हो जाता है—संघर्ष का अन्त हो जाता है। यही फल होता है जो अच्छा भी हो सकता है बुरा भी। सामान्य भाषा में कैटस्ट्राफी का अर्थ बुरा फल ही होता है. किन्तु मूल अर्थ में इसका अर्थ अन्तिम फल है।

पाश्चात्य धारणा की यह पाँचवी अवस्था हमारे यहाँ की पाँचवी अवस्था फलागम से ठीक-ठीक साम्य नहीं रखती है, क्योंकि पश्चिम की नाटक सम्बन्धी धारणा ही मूल रूप में भारतीय धारणा से भिन्न है। पाश्चात्य धारणा में उत्कृष्ट नाटक विषादांत या दुःखान्त (Tragedy) है

माना जाता है, अतः नाटकों का अंत दुर्घटना में ही होता है। परन्तु भारतीय मतानुसार नायक के इच्छित फल की प्राप्ति आवश्यक है और इसीलिए यहाँ नाटक सुखान्त ही होते थे। [आजकल कुछ लोग पश्चिमी अनुकरण पर दुखान्त नाटक भी लिख रहे हैं।] इस प्रकार हमारे नाटकों का अन्त सर्वनाश या दुर्घटना में नहीं, वरन् फल-प्राप्ति या फलागम में मानी गयी है। डा० मिश्र के शब्दों में, 'उद्देश्य में भिन्नता होने पर भी दोनों [पाश्चात्य एवं भारती] की कार्यावस्थाओं में अद्‌भुत साम्य है।

किन्तु भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोण में अधिकाधिक साम्य होते हुए भी उपर्युक्त अन्तर के अलावा एक और अन्तर की ओर डा० श्यामसुन्दर दास ने संकेत दिया है, वह है—संकेत के विषय में। हमारे देश में संघर्ष को अधिक महत्व नहीं दिया गया, किन्तु यूरोप में संघर्ष को नाटक प्राण समझा गया। डा० दास के ही शब्दों में—

'पाश्चात्य विद्वानों ने विरोध या संघर्ष को प्रधानता देकर अपने विषय की सीमा बहुत संकुचित कर दी है और हमारे यहाँ आचार्यों ने अपना क्षेत्र विस्तृत रखा है। हमारे विभाग और विवेचन के अंतर्गत उनके विभाग और उनका विवेचन सहज में आ सकता है, पर उनके संकुचित विवेचन में हमारे विस्तृत विवेचन का स्थान नहीं।''

परन्तु, आधुनिक युग में यह मत उपयुक्त नहीं माना जा सकता। आधुनिक नाटकों में संघर्षमय वातावरण की कमी होने पर उनमें नाटकीयता का अभाव माना जाता है। संघर्ष के अभाव में नाटक के पात्र निर्जीव कठपुतली से प्रतीत होते हैं और कथावस्तु बिल्कुल शुष्क तथा नीरस लगती है। प्राचीन भारतीय नाटकों में कवित्वपूर्ण वातावरण के साथ आध्यात्मा-प्रधान आदर्शवाद का प्राधान्य रहता था, उनके संघर्ष की अपेक्षा तो नहीं की गयी, किन्तु उसे प्रमुखता नहीं दी गयी है। किन्तु आज वह दृष्टिकोण परिवर्तित है।

अर्थ-प्रकृतियाँ-भारतीय आचार्यों के अनुसार 'प्रयोजन (फल या

कार्य) की सिद्धी के हेतु (साधक) अर्थ-प्रकृति है—'अर्थ प्रकृतिय: प्रयोजन सिद्धि हेतव: ।' डा० भगीरथ मिश्र के वाक्यों में—'अर्थ प्रकृतियाँ कथावस्तु के वे अंग हैं जो उसे (वस्तु को) कार्य की ओर अग्रसर करती है।' वास्तव में मुख्य फल-प्राप्ति की ओर अग्रसर करने वाले चमत्कारपूर्ण अव या अंश को ही अर्थ-प्रकृति कहा गया है। इनकी संख्या ५ हैं—

१. बीज २. बिन्दु ३. पताका ४. प्रकरी और ५. कार्य।

१. बीज—कार्य फल का वह हेतु है जो आरम्भ में अत्यन्त सूक्ष्म होता है और बाद में विस्तृत हो जाता है। जिस प्रकार छोटा बीज आगे बढ़कर विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार कथावस्तु का 'बीज' भाग भी उसे बढ़ाने में सहायक होता है। अत: स्पष्ट है कि इनका सम्बन्ध अधिकारिक कथा-संकेत से होता है।

२. बिन्दु—प्रधान कथा (अधिकारिक) का बीज द्वारा सूत्रपात हो जाने पर भी भाग कथा को आगे बढ़ाता है, वह बिन्दु कहलाता है वास्तव में बिन्दु निमित्त होता है—अवान्तर या प्रासंगिक कथा को आगे बढ़ाने और आधिकारिक कथा से उनका सम्बन्ध जोड़ने का। जल पर तेल की बूंद की तरह कथावस्तु में इसका प्रसार माना जाता है।

३. पताका और ४. प्रकरी—ये दोनों प्रासंगिक कथा के भेद हैं। पताका के विषय में 'साहित्यदर्पण' में कहा है—'व्याप्ति प्रासंगिक वृत्त पताका' अर्थात 'व्यापक प्रासंगिक वृत्त को पताका' कहते हैं। दूसरे शब्दो में पताका मूल या आधिकारिक कथा के साथ बराबर सम्बन्धित होती है यानी शुरू होने पर बीच में ही समाप्त नहीं होती। इसमें नायक अपना पृथक महत्व नहीं रखता वह अपने कार्यों द्वारा मूल कथा के विकास में सहायक सिद्ध होती है।

जो प्रासंगिक कथा बीच में ही विकास-क्रम को सहायता देकर समाप्त हो जाती है, वह प्रकरी कही जाती है। यह विस्तार में छोटी होती है।

५. कार्य—जिसकी सिद्धि के लिये समस्त प्रयास होते रहते हैं और जो कथावस्तु में अभीष्ट है वही कार्य है। दूसरे शब्दों में अन्तिम परिणाम

फल को ही कार्य कहते हैं।

संधियाँ—संधि का अभ्यार्थ है जोड़ या मेल। नाटक में भी जहाँ पर अवस्थाओं और अर्थप्रकृतियों का मेल है, वहाँ संधि मानी जाती है। ये विभिन्न संधियाँ विभिन्न अवस्थाओं की स.म्प्ति तक चलती हैं। इनकी संख्या ५ है, क्योंकि ५ ही अवस्थाएं हैं और ५ अर्थ-प्रकृतियाँ। प्रत्येक अवस्था, और प्रत्येक अर्थ प्रकृति के अलग-अलग संयोग के आधार पर संधियाँ निम्नांकित हैं—

१. मुख, २. प्रतिमुख, ३. गर्भ, ४. विमर्श या अवमर्श और निर्वहण।

१. मुख संधि—में प्रारम्भ नामक अवस्था के साथ संयोग होने पर अनेक रसों अर्थों के द्योतक बीज (अर्थ प्रकृति) उत्पत्ति होती है।

१. प्रतिमुख-संधि—इसमें मुख संधि में प्रकट हुआ बीज कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रूप में विकसित होता हुआ जान पड़ता है। यह प्रयत्न नामक अवस्था और बिन्दु नामक अर्थप्रकृति कार्य-व्यापार में अवसर होती है।

३. गर्भ संधि—के अन्तर्गत प्रतिमुख संधि में अंकुरित बीज विस्तार प्राप्त करता है—बीज का बार-बार अविर्भाव, तिरोभाव तथा अन्वेषण होता रहता है। इसके भीतर फल छिपा होता है, अतः यह गर्भ-संधि कही जाती है। इसमें प्राप्त्याशा अवस्था और पताका अर्थ प्रकृति का योग होता है।

४. विमर्श या अवमर्श संधि—नियताप्ति अवस्था और प्रकरी अर्थ प्रकृति का योग होता है। इसमें गर्भ संधि की उपेक्षा बीज का अधिक विस्तार होता है, किन्तु उसके फलोन्मुख होने मे शाप, क्रोध आदि विघ्न उपस्थित होते हैं। इसमे हृदय मंथन और विमर्श की विघ्नाएँ उपस्थित होती हैं, अतः इनका नाम विमर्श संधि रखा गया है।

५. निर्वहण या उपसंहार इस संधि मे फलागम अवस्था और कार्य अर्थ प्रकृति होता है। इसमे चारों (उपर्युक्त सधियो मे वर्णित अर्थों का समाहार हो जाता है और मुख्य फल की प्राप्ति हो जाती है।

सन्धियों को कथानक के भाग के रूप में 'साहित्य दर्पण' में मा
गया है। 'दशरूपक' में इनकी उत्पत्ति अर्थप्रकृतियों और अवस्थाओं
यथाक्रम समन्वय पर ही आधारित माना है और इनका प्रयोजन बत
(१) इष्टार्थ की रचना, (२) छिपा लेने योग्य अंश का गोपन, (३
प्रकाश करने योग्य अंश का प्रकाश, (४) राग-प्रयोग और (५) आश्च
उत्पन्न करना।

यहाँ पर, गुलाबराय जी लिखते हैं—"गर्भ और अवमर्श संधियों
पताका और प्रकरी की प्राप्या और नियताप्ति से योग आवश्यक न
है।" किन्तु, उपर्युक्त ढंग से ही उन्होंने भी स्पष्ट किया है।

उक्त विवेचन से देखा जा सकता है कि भारतीय आचार्यों की नाट
की पूर्णता की दृष्टि कितनी व्यापक सूक्ष्म और वैज्ञानिक थी। कथावस्तु
सुन्दर और समुचित संगठन का उन्हें कितना ध्यान था यह ध्यान रखने
बात यह है कि रूपक के अन्य भेदों में कार्यावस्थाएँ अर्थ प्रकृतियां
संधियाँ नहीं होती, केवल नाटक मे ही समस्त संधियों का विधान है-'स
नाटक संश्रय:"—साहित्य दर्पण।

सारांशत:, अर्थ प्रकृतियाँ वस्तु (कथावस्तु) के तत्वों से, अवस्था
कार्य व्यापक से और सन्धियाँ नाटक-रचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण
इन तीनों के विभिन्न भेद विभिन्न विचारों में प्रयुक्त हैं, फिर भी एक-दू
के अनुकूल और सहायक हैं।

आधुनिक नाटकों में कथावस्तु के अन्तर्गत इन प्राचीन शास्त्री
नियमों का पालन नहीं दिखायी पड़ता। उनका विकास स्वतन्त्र रूप में
रहा है। आजकल एक ही प्रधान कथा रहती है, प्रासंगिक कथा आवश्
नही समझी जाती। आज के नाटक आकार में भी छोटे होते हैं,
उसमें विभिन्न अवस्थाओं का तो निर्वाह सम्भव है, पर अर्थ-प्रकृतिक
सन्धियों का नहीं।

प्रश्न ४६—नाटक के अन्तर्गत 'चरित्र-चित्रण' का स्वरूप, नाटक के नायक और पात्रों का उल्लेख करते हुए स्पष्ट कीजिये।

नाटक के अन्तर्गत जितने भी तत्त्व हैं, उनमें उसके नायक तथा पात्र एवं उनका चरित्र-चित्रण, कथावस्तु के बाद दूसरा महत्त्व पूर्ण तत्त्व माना गया है। नाटक में अनेक पात्र होते हैं और उन्हीं के आश्रय से घटनाएं घटित होती हुई कथावस्तु का निर्माण एवं विकास करती है। उन पात्रों के चरित्र-चित्रण के स्वरूप को समझने के लिए नाटक के नायक तथा अन्य पात्रों के सम्बन्ध में जान लेना उपर्युक्त होगा। अतः हम पहले उनके विषय में आवश्यक उल्लेख करेंगे।

नाटक के प्रमुख पात्र नेता या नायक कहलाता है, नायक की प्रिया अथवा पत्नी नायिका कही जाती है। हमारे यहाँ के नाट्यशास्त्रियों ने नायक एवं नायिका के गुणों की सूक्ष्म विवेचना की है और उनको स्वभाव तथा गुणों के अनुसार अनेक वर्गों में वर्गीकृत किया है।

नायक—नाटक का प्रधान पात्र होता है और यह सम्पूर्ण कथा-शृंखला को विकसित करता हुआ उसे अन्त की ओर या फल की ओर ले जाता है। उसे ही फल प्राप्ति होती है उसकी उपस्थित आदि से अन्त तक अनिवार्य मानी गयी है

नायक के निम्नलिखित गुण अनिवार्य माने गये हैं—

'दशरूपक' के अनुसार, 'नेता को विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष प्रियभाषी, लोकप्रिय, शुचि वाक्पटु, उच्च कुलोत्पन्न, स्थिर, युवा, बुद्धिमान, उत्साही, स्मृतियुक्त, प्रज्ञावान, कलाओं का ज्ञाता, आत्म-सम्मानी, शूर, तेजस्वी, दृढ़ शास्त्रज्ञ और धार्मिक प्रवृत्ति वाला होना चाहिए।"

इस प्रकार, नायक प्राचीन भारतीय नाट्य-शास्त्रियों के मतानुसार श्रेष्ठ कुलोत्पन्न, सर्वगुण सम्पन्न एक महान व्यक्ति देवोपम व्यक्ति होता था। किन्तु, आधुनिक युग में यह मान्यता बदल गयी है, आजकल आभिजात्य या उच्च कुल के नायक की तो समस्या ही हो गयी है। दुर्गुणी व्यक्ति भी अब नायक के रूप में चित्रित हो सकता है।

नायक के भेद—नायकों के चार प्रकार बताये गये हैं १. धीरोदात्त २. धीर ललित, ३. धीर प्रशांत और ४. धीरोद्धत।

इन चारों कोटियों के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि 'धीर' गुण सबके साथ जुड़ा है। क्रमानुसार इनके गुण वर्णित हैं—

१. धीरोदात्त नायक—'साहित्य दर्पण' के अनुसार, "आत्म प्रशंसा न करने वाला, क्षमाशील, अत्यन्त गम्भीर, हर्ष शोकादि से अप्रभावित रहने वाला, कार्यों में स्थिर, स्वाभिमानी तथा अपनी बात पर दृढ़ रहने वाला नायक धीरोदात्त है।" इस प्रकार का नायक सभी नायकों में सर्वश्रेष्ठ तथा उदार चरित्र वाला होता है। उसमें सभी उपर्युक्त गुण पाये जाते हैं। जैसे—राम तथा युधिष्ठिर।

२—धीर ललित—नायक निश्चिन्त, कला प्रिय सुखी तथा मृदुल स्वभाव वाला होता है। जैसे दुष्यन्त। इस प्रकार के नायक भोग विलास तथा सुखद क्रीड़ाओं में संलग्न करते हैं।

३—धीर प्रशान्त-नायक सामान्य गुणों से युक्त क्षत्रियेतर (अक्षिय) होता है। इसमें ब्राह्मण अथवा वैश्य आदि का उल्लेख नायक के रूप में किया गया है, जिसमें सन्तोष और शांति प्रियता के गुण अधिक मात्रा में होते हैं। साथ ही वे कोमल चित्त और सुखान्वेषी भी होते हैं। जै 'मालती माधव' का 'माधव।

४—धीरोदात्त-नायक में गुणों की अपेक्षा दोषों की अधिकता होती है। वह मायावी, उग्र या उद्धत, चपल-चंचल, अहंकारी, दर्पपूर्न, आत्म-प्रशंसक होता है। इसे अपने बल और वैभव का बहुत गर्व होता। छल-प्रपंच भी इसमें विशेष रूप से होता है। कुछ आचार्य दुर्गुणों के कारण इस तरह के नायक को नायक मानना उचित नहीं समझते। वस्तुतः, साहित्य में इस प्रकार के नायक बहुत कम मिलते हैं। गौण पात्रों या प्रति नायकों (नायक के विरोधी प्रमुख पात्र को प्रतिनायक कहते हैं) में अवश्य ही इस प्रकार के कुछ विशेष या सीमित लक्षण दिखायी पड़ते हैं। जैसे, 'रावण' 'परशुराम' और भीम आदि इसी कोटि में आते हैं।

शृंगार रस की दृष्टि से भी नायक चार प्रकार के बताये गये हैं—

१—अनुकूल, २—दक्षिण, ३—शठ और—४—धृष्ट ।

१—अनुकूल—नायक सदैव एक ही नायिका में अनुरक्त होता है, चाहे वह नायिका उसकी प्रेमिका हो, चाहे पत्नी । जैसे, राम ।

२—दक्षिण नायक—एक से अधिक नायिकाओं से सम्बन्ध रखता है, किन्तु प्रधान रुक्मिणी या नायिका ध्यान सदैव और सबसे अधिक रखता है। सभी नायिकाओं के प्रति उसका व्यवहार सरल, भद्र तथा सदय होता है। उसमें एक साथ सबको प्रसन्न रखने का गुण होता है । यह भी कहा गया है कि वह अपनी दक्षता से प्रधान प्रेमिका के समक्ष अन्य स्त्री प्रेम प्रकट होने नहीं देता ।

३—शठ नायक—अन्य नायिकाओं से प्रेम अवश्य करता है, किन्तु अप्रकट रूप में । वह अन्य प्रेमिकाओं के प्रति अपने को छिपाने के लिये सदैव तत्पर रहता है ।

४—धृष्ट नायक—यह स्पष्ट रूप से दुराचरण करता है और निर्लज्ज होता है । अतः प्रधान प्रेमिका या पत्नी अपनी धृष्टता और निर्लज्जता से दुखी करने में भी चूकता और न उसकी चिन्ता करता है ।

ब—प्रतिनायक—यह नायक का प्रतिद्वन्द्वी या विरोधी होता है । इसे आजकल 'खलनायक' भी बोलते हैं ।

स—पीठ मर्द—प्रासंगिक कथा वस्तु का प्रधान पात्र या नायक होता है और आधिकारिक कथा के प्रधान-नायक का सहायक होता है ।

नायिका—नायक की पत्नी अथवा प्रिया होती है । वह सर्वगुण सम्पन्ना मानी गयी है । 'नाट्यशास्त्र' के अनुसार नायिका की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

"नायिका रूपवती, गुण-शील-मधुरता-यौवन और शक्ति से सम्पन्न स्नेही, मधुर, स्निग्ध, भावपूर्ण वचन बोलने वाली, योग्य, क्रोध-रहित प्रयाग का ज्ञान रखने वाली, और रस-युक्त होती है ।"

नायिका के रूप-गुणों का आकर्षण नायक लिये महत्वपूर्ण होता है तथा नाटक की कथावस्तु के विकास के लिये प्रेरणा प्रदान करता है ।

हमारे यहाँ के आचार्यों नायिकाओं के भेद बहुत विस्तार से सूक्ष्मतम विशेषताओं के आधार पर बताये हैं, किन्तु मुख्य भेदों में परिचय देना ही यहाँ अभीष्ट है।

'भरत मुनि' ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में नायिकाओं में चार मुख्य भेद किये हैं—

१—दिव्या, २—नृपति नारी, ३—कुल स्त्री और ४—गणिका। अन्य मतानुसार नायिकाओं के तीन प्रमुख भेद हैं—

१—स्वकीया, २—परकीया और ३—सामान्य।

१—स्वकीया—नायक की अपनी पत्नी होती है।

२—परकीया—नायिका दूसरे की पत्नी भी हो सकती है या अविवाहिता भी।

३—सामान्य—नायिका किसी एक की पत्नी नहीं, बल्कि जनभोग्या होती है।

विशेष—यहां यह उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य आचार्य नायिका के लिये नायक की प्रिया अथवा पत्नी होना अनिवार्य नहीं मानते, बल्कि उनके मतानुसार स्त्री-पात्रों मे जो प्रमुख हो और कथावस्तु में प्रमुख भाग ले, वही नायिका मानी जायगी, चाहे वह नायक कि प्रिया हो पत्नी हो। आजकल के हिन्दी नाटकों में इसी मत का अनुसरण दृष्टि गत होता है।

नायक और नायिका के उपरांत, नायक के सहायक पात्र भी प्रमुखता रखते हैं, जिनका उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है।

नायक के सहायक—नायक तथा प्रतिनायक के अतिरिक्त प्रत्येक नाटक में अनेक पात्र ऐसे होते हैं, जिनका उद्देश्य नायक या प्रतिनायक की अभिष्ट की प्राप्ति में सहायता देना होता है। इनमें मुख्य हैं—

१—विट, २—चेट, ३—शकार और ४—विदूषक।

१—विट—वेश्या के उपचार में कुशल, मधुर, व्यवहार-कुशल, कवि, ऊहापोह की परिस्थिति लाने में समर्थ एवं बात करने में चतुर, विट होता है" ऐसा भरत मुनि का मत है। वस्तुतः विट, वाचाल, नीति निपुण

वाद्य-वादन में कुशल और धूर्त होता है। वह नायक का अन्तर्वंश
...क होता है।

२. चेट—नायक का अनुचर होता है। उसमें ये लक्षण होते हैं—
...लहप्रिय, अनेक कथाएँ जानने वाला, विकृत रूपवाला, गन्ध का सेवन
...रनेवाला, माननेवाली बातों का विशेष ज्ञान रखनेवाला, चेट
...हलाता है।"

३. शकार—"श्वेत वस्त्रों एवं आभूषणों को पहनने वाला, अकरण
...ोध करने वाला और प्रसन्न होने वाला, अधम कोटि का और विकारों
... युक्त (मागध) भाषा बोलनेवाला, शकार होता है" भरत मुनि।

४. विदूषक—"वामन (छोटे कद वाला), बड़े दाँतों वाला, कुबड़ा
विकृत मुँहवाला, पीली आँखों वाला और दोहरी बातें कहने वाला
विदूषक होता है। विदूषक न केवल नायक का मनोरंजन ही करता है,
...रन् प्रेमादि के प्रसंगों में सत्परामर्श मंत्रणा भी देता है और संकेतपूर्ण
...ातें भी कहता है। वह नायक का मनोरंजन मित्र होता है और उसकी
...ति अन्तःपुर तक मानी जाती है। इस प्रकार वह विकृत और हास्योत्-
...ादक होते हुए भी महत्वपूर्ण पात्र होता है। घनिष्ठता एवं मित्रता के
...ारण वह नायक से भी परिहास कर सकता है। संस्कृत में प्रायः बहु-
...ोजी (पेटू) ब्राह्मण को विदूषक का कार्य करते हुए चित्रित किया
...या है।

पाश्चात्य नाटकों में जो स्थान 'क्लाउन' (clown) को दिया गया
है, वही स्थान संस्कृत नाटकों में 'विदूषक' का है। हास्य-विनोद का
...सग उपस्थित करना ही विदूषक का कार्य है।

किन्तु उपन्यास नाटकों में विदूषक की पृथक सत्ता नहीं है, यह
...मरणीय है।

चरित्र-चित्रण—उपन्यास की तरह नाटकों में चरित्र-चित्रण का
विशेष महत्व है। पात्रों के मानसिक एवं भावात्मक परिस्थितियों का
चित्रण करके उनके माध्यम से पात्रों की आन्तरिक एवं बाह्य वृत्तियों

को प्रकाशित किया जाता है चारित्रिक उत्थान-पतन, मानसिक उतार चढ़ाव, विभिन्न भावों और आदर्शों का चित्रण उसमें पर्याप्त मात्रा में किया जाता।

किन्तु, उपन्यास एवं नाटक के चरित्र-चित्रण के ढंग में अन्तर है। इसका कारण यह है कि उपन्यास में स्थान और समय का अभाव नहीं होता। साथ ही उपन्यासकार एक ओर तो कथोपकथन या संवाद के सहारे भी चरित्र-चित्रण कर सकता है, दूसरी ओर वह स्वयं भी पात्रों के विषय में टीका टिप्पणी करने में समर्थ होता है। इसके विपरीत नाटक में स्थान एवं समय तो कम होता ही है, नाटककार को अपनी ओर से किसी पात्र के विषय में कुछ भी कहने की गुंजाइश नहीं होती उपन्यासकार की तरह वह वह पात्रों के आन्तरिक संघर्ष आदि का भी चित्रण नहीं कर सकता, फलतः नाटककार का नाटक में चरित्र-चित्रण उपन्यासकार की तुलना में अधिक कठिन होता है।

इसी तथ्य को गुलाबराय जी ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"नाटक में चरित्र-चित्रण विश्लेषणात्मक या प्रत्यक्ष रूप नहीं होता है। यह तो उपन्यासकार का ही विशेषाधिकार है कि वह स्वयं अपने पात्रों का पाठकों से परिचय कराये तथा उनकी प्रकृति और उनके हृदय के गूढ़ रहस्यों पर प्रकाश डाले। नाटक में या तो चरित्र-चित्रण के परोक्ष या अभिनयात्मक ढंग से काम लिया जाता है; या तो नाटक के पात्र एक दूसरे के चरित्र पर प्रकाश डालते हैं या पात्र स्वयं अपने चरित्र का उद्‌घाटन करते हैं।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि नाटककार अपने पात्रों के विषय में स्वयं कुछ नहीं कहता; वह कथावस्तु घटनाओं और कथोपकथन (संवाद तथा स्वागतकथन) द्वारा पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालता है। इससे प्रकट होता है कि नाटक के चरित्र-चित्रण के ये तीन ढंग हैं जिन्हें सफलता से नाटककार अपना सकता है, किन्तु उपन्यास में केवल दो ही प्रकार से चरित्र-चित्रण हो सकता है—साक्षात् या प्रकट उपन्यासकार द्वारा स्वयं कथन के रूप में) और परोक्ष या अभिनयात्मक ढंग से।

नाटक के एक पात्र द्वारा दूसरे के चरित्र के मूल्यांकन के फलस्वरूप

या ईर्ष्यावश गलती हो सकती है, किन्तु यह दूसरे के चरित्र के मूल्यांकन होता है और फलतः विश्वसनीय भी। कोई पात्र अपने बारे में स्वागत रूप से या अपने किसी घनिष्ठ मित्र से अपने हृदय का भार हल्का करने के लिए कहता है, वह एक प्रकार की आत्मस्वीकृति ही होती है। उनकी सत्यता में सन्देह नहीं किया जा सकता, हाँ भावावेश में कुछ अत्युक्तियाँ हो जावें, यह सम्भव है, पर यह और बात है। बाबू गुलाबरायजी के शब्दों में—"स्वागत-कथन अस्वाभाविक अवश्य होता है, किन्तु चरित्र के उद्‌घाटन में सहायक होने के कारण निरर्थक भी नहीं कहा जा सकता।"

प्रश्न ४७—नाटकों में 'कथोपकथन' की महत्ता प्रतिपादित कीजिए।

नाटकों का ऐतिहासिक विकास देखने पर ज्ञात होता है कि कथोपकथन ही वह मूल तत्व है, जिसके आधार पर नाटकों का विकास हुआ है। भारती नाट्य साहित्य का विकास भी वेदों तथा उपनिषदों आदि में प्राप्त कथोपकथनों से ही स्वीकार किया जाता है। किन्तु हमारे यहाँ के नाट्य शास्त्रियों ने कथोपकथन को नाटक का स्वतन्त्र और पृथक् तत्व स्वीकार न करके उसका विवेचन अभिनय के ही अन्तर्गत समाहित कर दिया है; हाँ, पाश्चात्य विद्वान कथोपकथन को नाटक का एक पृथक् तथा स्वतंत्र तत्व अवश्य मानते हैं। वास्तव में, नाटकीय वस्तु के विकास और उसमें नाटकीय गुणों की स्थापना कथोपकथन पर ही आधारित है। "नाटक की कथावस्तु कथोपकथन या संवाद के रूप में ही रहती है। यह सामाजिकों अथवा दर्शकों के लिए तो श्रव्य रहती है, किन्तु कुछ बातें होती है, जिनके सुनने से कुछ पात्र वंचित कर दिये जाते हैं। (गुलाबराय)

इसी आधार पर नाटक के कथोपकथन को तीन भेदों में विभक्त किया गया है—"

१—श्रव्य या सर्वश्रव्य, २ अश्रव्य और ३—नियत श्रव्य।

इन तीनों भेदों तथा उनके उपभेदों का विवेचन हमारे यहाँ के आचार्यों ने अभिनय के अन्तर्गत—ही किया।

१—सर्वश्रव्य या श्रव्य—वे कथोपकथन हैं, जो सबके सुनने के लिए होते हैं। इसे ही प्रकट या प्रकाश्य कथन भी कहा गया है।

२—अश्रव्य—वे कथन हैं, जो सबके या दूसरे के सुनने के लिए नहीं होते। गुलाबराय जी शब्दों में—"यह एक प्रकार की मुखरित रूप विचार करना है।"

इसी को नाट्यशास्त्रियों ने 'स्वगत या आत्मगत कथन' भी कहा है। भगीरथ मिश्र के शब्दों में—"वह अन्तस में उठनेवाली विचारधारा का प्रकाशन होता है, जिसे वक्ता स्वयं ही जानता है, अन्य नहीं। सामाजिक यह समझ सकें कि अमुक पात्र के मन में कौन-कौन विचार उठ रहे हैं, इसलिए स्वगत-कथन का प्रयोग किया जाता है।

आजकल स्वगत-कथन को कुछ लोग अस्वाभाविक मानते हैं और नाटक में इसे न रखने के लिए उद्योग करते हैं। किन्तु देखा जाय तो स्वगत कथन कहीं-कहीं तो स्वाभाविकता बढ़ानेवाला होता है, जैसे भावावेश में लोग स्वतः बोलने लग जाते हैं। यद्यपि यह ठीक है कि किसी भी व्यक्ति के मन में जो कुछ आये उसे पागल के अलावे और क्या कहा जायगा? विशेषकर जब वह अकेला हो, तब तो उसका स्वागत-कथन और भी अस्वाभाविक लगता है। दूसरे शब्दों में अपने-आप बड़बड़ाना और बोलना भद्दा-सा प्रतीत होता है? तथापि नाटक में इसकी आवश्यकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि "पात्रों की आन्तरिक प्रवृत्तियाँ और उनके मानसिक घात-प्रतिघात के चित्रण के लिए नाटककार के पास इसके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं। आन्तरिक विचारों का प्रदर्शन मनुष्य की चारित्रिक विशेषताओं के ज्ञान के लिए अत्यावश्यक है। उपन्यासकार टीका-टिप्पणी द्वारा यह कार्य कर सकता है किन्तु नाटककार को कथन का ही आश्रय लेना पड़ा है" (प्रेमचन्द सुमन, योगेन्द्र कुमार मलिक : साहित्य-विवेचन।)

स्वागत-कथन को अस्वाभाविक तब कहा जायगा जब उसे अनुचित विस्तार दिया जाय। अस्तु स्वागत-कथन संक्षिप्त होना चाहिए। ज्ञान

वीरव मिश्र के शब्दों .... परन्तु इसका बहुत अधिक प्रयोग अस्वाभाविक है। हम बिना किसी पर प्रकट किये अनेक विचार मन में लाते हैं और यह जीवन की एक स्वाभाविक स्थिति है। अतःस्वागत कथन का प्रयोग नाटक में हो सकता है। इसका अत्यधिक प्रयोग रोचकता में बाधा पहुंचाता है और अस्वाभाविक लगता है।"

पाश्चात्य नाटकों में और आजकल उनसे प्रभावित भारतीय नाटकों में भी स्वागत कथन की अस्वाभाविकता मिटाने के लिए एक दूसरे नवीन एवं विश्वास पात्र अवतारण की जाती हैं जो सम्बन्धित पात्र का अन्तरंग मित्र होता है और जिससे सामने वह (स्वागत कथन वाला पात्र अपना हृदय खोलकर रख देता है—अपने सब भाव प्रकट कर देता है। गुलाबराय जी के शब्दों में "इस में (उसका) आत्म-विश्लेषण हो जाता है। उपन्यासकार जो कुछ विश्लेषणात्मक चित्रण द्वारा उपस्थित करता है वह इससे हो जाता है।"

३. नियत श्रव्य—नाटक का वह कथोपकथन है कुछ पात्रों के सुनने के लिए होता है और कुछ के लिए नहीं। दूसरे शब्दों में इस कथोप-कथन में रंगमंच पर सब पात्रो के सम्मुख बातचीत नहीं की जाती बल्कि कुछ निश्चित पात्रों में बातचीत होती है।

नियत श्रव्य कथोपकथन के भी दो प्रकार बताये गये हैं।

१. अपवारित और २. जनान्तिक।

१. अपवारित—में जिस पात्र से बात न कहनी हो या छिपानी हो उसकी तरफ से मुंह फेरकर बात कही जाती है। डा॰ मिश्र के शब्दों में यह कोई गूढ़ बात होती। गुह्यार्थ-युक्त (गूढ़ अर्थ वाली) बात को कान के पास जाकर कहने का नियम है जिसस और कोई नहीं सुनना यह भाव प्रकट होता है।

२. जनान्तिक—में जिस पात्र से बात न कहनी हो उसके सामने 'त्रिपताका' (अर्थात् बीच की तीन उंगलियों को उठाकर) हाथ करके अन्य पात्रों से बात कही जाती है।

उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त कथोपकथन का एक अन्य प्रकार है—

आकाश-भाषित—नाट्यशास्त्र के अनुसार इसमें 'आकाश की ओर मुँह उठाकर किसी दूर-स्थित व्यक्ति से जिसका शरीर दिखाई नहीं देता, परो में बात की जाती है। इसे आकाश-भाषित या आकाश-वचन कहा जाता है।" संस्कृत के रूप के भेद 'भाण' की रचना एकांकि आकाश-भाषित ही रूप में हुई। हिन्दी के 'मुद्राराक्षस' और 'सत्य हरिश्चन्द्र, में भी इसका प्रयोग हुआ है। इसमें पात्र द्वारा 'क्या कहा' आदि ऐसे वाक्यों को प्रयोग किया जाता है, जिससे मालुम हो कि वास्तव में किसी दूसरे व्यक्ति से बात कर रहा है यद्यपि वह व्यक्ति कल्पित होता है।

अन्त मे इस बात पर भी कुछ लिखना आवश्यक है कि नाटक में कथोपकथन और चरित्रचित्रण में क्या सम्बन्ध है? यह तो स्पष्ट ही है कि चरित्र-चित्रण में कथोपकथन का विशेष महत्व है क्योंकि यही वह माध्यम है' जिससे पात्रों का चरित्र उद्घाटित होता है। चाहे जिस तरह का चरित्र-चित्रण हो, वह पात्रों के कथन के किसी प्रकार से ही सम्बन्ध रखता है। कथोपकथन के तथ्यों के अतिरिक्त उनके ढंग और शैली से भी चारित्रों पर प्रकाश पड़ता है।

अस्तु कथोपकथन का पात्रों की परिस्थितियों के अनुकूल होना आवश्यक है। कथोपकथन के लम्बे होने या अस्वाभाविक ढंग बढ़ जाने से नाटक में नीरसता और निर्जीवता आ जाती है। अतःएवं नाटक की सरसता, सजीवता और उपयुक्त चरित्र-चित्रण के लिए यह आवश्यक है कि कथोपकथन लम्बे और विस्तृत न होकर छोटे और संक्षिप्त हों। इतना ही नहीं, दर्शक या समाजिक का मन न ऊबे इसके लिए ऐसा होना आवश्यक है।

यहाँ एक बात और उल्लेखनीय है कि हमारे आचार्यों ने कथोपकथन का विवेचन अभिनय की तत्व की सीमा में ही किया है, अतः अभिनय की उपयुक्तता को ध्यान में रखकर ही कथोपकथन की रचना आवश्यक है। पात्रों और परिस्थितियों के अनुकूल ही कथोपकथन के वाक्य और शब्दों तथा उनकी लम्बाई आदि अपेक्षित है।

नाटक के कथोपकथन के गुण बतलाते हुए गुलाबराय जी ने लिखा है—"सफल कथोपकथन वही होता है, जोकि कथाक्रम के अग्रसर करने में सहायक हो या चरित्र पर प्रकाश डाले। नाटकीय लाघव (Dramatic Economy) की यह मांग है कि कथोपकथन यथासम्भव छोटी न हो, वरन् ऐसा हो कि वह चरित्र पर अधिक प्रकाश डाले। वेही बातें और कार्य सामने आयें, जिनमें चरित्र की कुन्जी सन्निहित हो। स्वल्पातिस्वल्प साधनों द्वारा अधिक से अधिक कार्य निकाला यही कलाकार की कोशल है। थोड़े से समय में हम नाटक और उपन्यास के पात्रों के सम्बन्ध में वास्तविक जीवन के पात्रों की अपेक्षा गहरा परिचय कर लेते हैं।······ नाटक और उपन्यास के पात्रों का कथोपकथन और कार्य कलाप चुना हुआ और सोद्देश्य होता है।"

सारांश रूप में, यही नाटकीय कथोपकथन की निजी विशेषता है।

प्रश्न ४८—नाटक में 'वातावरण' के तत्व पर भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करते हुए प्रकाश डालिए।

प्रश्न ४९–'संकलन-त्रय' से क्या अभिप्राय है? भारतीय आचार्यों के दृष्टिकोण का भी ध्यान रखते हुए समीक्षात्मक उत्तर दीजिए।

पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार नाटक के छः अंग हैं। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक एवं विचारक अरस्तू ने विषादान्त या दुखांत नाटक (Tragedy) के अंग इस प्रकार बताये हैं–१. कथा-वस्तु (Plot), २. पात्र (Characterr), ३. भाषा (Dictian). ४. अभिनय (Spectactaele), ५. विचार (Thought) और ३. संगीत (Melody)।

डा० भगीरथ मिश्र लिखते हैं, "भारतीय दृष्टि से विवेचित चार अंगों—कथावस्तु पात्र, रस और अभिनय—में सभी का अशंतः समावेश हो जाता है। प्रथम दो तो सभी में हैं ही। अभिनय के भीतर, कथोप-

कथन भाषा और प्रदर्शन (Spectacle) सभी आ जाते हैं। इतना ही नहीं वेष-भूषा तक आहार्य अभिनय में सम्मिलित है। शैली का विवेचन (हमारे यहाँ) वृत्ति के अन्तर्गत किया गया है। उद्देश्य और विचार भारतीय दृष्टि से रस के अन्तर्गत है, जिसके अनुसार रस ही नाटक या रूपक का मुख्य प्रतिपाद्य है। ऐसी दशा में कोई अलग तत्व मूलत: रह नहीं पाता। फिर भी यूनानी नाटकों में देशकाल का ध्यान रखकर अपने सीमित साधनों के कारण संकलनत्रय (There unities) का ध्यान रखा गया है।

स्पष्ट है कि नाटक के तत्व या अंग सम्बन्धी पाश्चात्य दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर होते हुये भी बहुत कुछ साम्य है। नाटक के अंग सम्बन्धी पाश्चात्य एवं भारतीय दोनों दृष्टिकोणों का ध्यान रखते हुये बाबू गुलाब राय जी अपना मत इस प्रकार प्रकट करते हैं, 'यूरोप की समीक्षा-पद्धति में अनुकूल जो तत्व गिनाये जाते हैं, उनका इन तत्वों के साथ सामान्य हो सकता है। वे सब अंग इन अंगों में समाविष्ट हो जाते हैं। यूरोपीय समीक्षकों के अनुसार जो उद्देश्य तत्व है, वह भारतीय नाटकों में रस संचार का रूप ले लेता है।

उपर्युक्त तथ्यों का ध्यान रखते हुये हमें यह देखना है कि नाटक में देश काल तथा वातावरण का तत्व कितना महत्व पूर्ण है और पाश्चात्य दृष्टि से जो संकलनत्रय की बात कही जाती है, वह भारतीय दृष्टि से कहाँ तक साम्य रखती है ?

उपन्यास की भाँति ही नाटकों में भी देश, काल और वातावरण का विचार रखा जाता है। इसे मानने में कोई आपत्ति नही होनी चाहिये और इस दृष्टि से इस तत्व को नाटक का एक तत्व मानना अनुचित नहीं। ऐसा अधिकांश विद्वानों का विचार है। किन्तु डा० भगीरथ मिश्र इससे सहमत नहीं है। वे लिखते हैं, 'कुछ लोगो ने कथावस्तु, पात्र शैली कथोप-कथन देश काल और उद्देश्य के रूप में नाटक और उपन्यास के एक ही प्रकार के अंग माने जाते हैं, जो उचित नहीं हैं।' फिर भी हम इन

विद्वानों के मतों पर ध्यान दें तो ज्ञात होगा कि नाटक के भीतर देशकाल और वातावरण का ध्यान रखना इसलिये आवश्यक है कि पात्र का स्पष्ट एवं यथार्थ व्यक्तित्व, चरित्र-चित्रण में मुखर हो सके। इसे यों भी समझ सकते हैं कि पात्र के व्यक्तित्व में स्पष्टता एवं वास्तविकता लाने के लिये पात्रों के चारों ओर की परिस्थितियों, वातावरण तथा देशकालिक विधान के वर्णन की विशेष आवश्यकता पड़ती है। और यदि देश काल तथा वातावरण के विपरीत चित्रण हुआ तो स्वाभाविकता और अस्पष्टता हो जाती है। उदाहरणार्थ मौर्य कालीन पात्रों के चित्रण में आधुनिक ढंग का चित्रण अनुपयुक्त और असंगत होगा।

कहना न होगा कि प्रत्येक का और प्रत्येक देश की अपनी सभ्यता और संस्कृति होती है, उनके अपने रीति-रिवाज रहन-सहन और वेषभूषा के ढंग होते हैं, जिनका चित्रण उसी रूप में होना उचित और संगत कहा जायगा। यदि 'राम चंद्र जी' को नेकटाई, हैट-पैंट में अथवा 'नेपोलियन' को धोती कुर्ता में चित्रित कर दिया जाय, तो ऐसा चित्रण देशकाल के विरुद्ध होने के कारण अस्वाभाविक और उपहासास्पद ही होगा।

वैसे तो उपन्यास में देश काल तथा वातावरण सम्बन्धी जो बात विचार में रखी जानी चाहिये। उन्हीं बातों का तो नाटक में भी विचार रखना पड़ता है; किन्तु नाटक में उन्हीं बातों का ध्यान रखना चाहिये, रंग-मंच पर घटित हो सकें, क्योंकि नाटक का सम्बन्ध रंग-मंच से है, उपन्यास का नहीं।

भारतीय नाट्यशास्त्र में आहार्य अभिनय के भीतर पात्रों, वस्त्र-भूषणों या वेश भूषादि का विशद वर्णन है तथा वाचिक अभिनय में उनकी भाषा का वर्णन है। रंग मंच पर अनेक वर्जित दृश्यों की पर्याप्त चर्चा की गयी है। तथा दृश्यों अंकों चित्रों और परदों का भी विधान है। इस प्रकार यह मानने में संकोच नहीं करना चाहिये कि हमारे आचार्यों ने देश काल और वातावरण का नाटकों में पर्याप्त ध्यान रखा है और यह केवल पश्चिम की देन नहीं है हम पाश्चात्य मतानुसार संकलनत्रय के निम्ना-

विवेचन में भी भारतीय आचार्यों की तद्विषयक मान्यताओं दर्शन कर सकते हैं—

संकलन-त्रय (three unities)—नाटक के भीतर देशकाल और वातावरण का ध्यान रखकर ही पाश्चात्य विद्वानों ने संकलनत्रय (three unities) की बात कही है। नाटकों का यह नियम स्थल, काल और कार्य की एकता से सम्बन्धित होने के कारण संकलनत्रय (three unities) के नाम प्रसिद्ध है और ग्रीक आचार्यों की देन है। नीचे इनका क्रमिक एवं संक्षिप्त है उल्लेख करते हुए भारतीय दृष्टिकोण को भी देखने का प्रयत्न किया गया है।

१. स्थान-संकलन—नाटक में वर्णित घटना एक ही स्थान की हो, इसे ही ग्रीक विद्वान स्थान या स्थल की एकता (Unity of place) कहते हैं। इसका कारण यह था कि यूनानी नाटकों में इस बात का पालन होता था कि रंग-शाला का आदि से अन्त तक वही दृश्य रहे, जिसके अनुसार नाटक में उन्हीं घटनाओं का प्रदर्शन होता थ, जो कि एक स्थान पर घटित हुई हों। दूसरे शब्दों में, विभिन्न स्थानों के दृश्य नाटक में नहीं होने चाहिए। किन्तु, ऐसा होने से दृश्यविधान में बहुत कुछ अभाव रह जाता है। डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में "इस स्थान-संकलन के पालन में नाटक की वस्तु सीमित हो जाती है और कल्पना के पूरे उन्मेष और वस्तु विविधता का अवकाश नहीं रहता है।" आगे भारतीय दृष्टिकोण की ओर वे इस प्रकार संकेत करते हैं, "भारतीय नाटकों में विभिन्न यवनिकाओं (परदों) तथा चित्रों द्वारा विभिन्न स्थानों के दृश्यों घटनाओं का विधान था। अतः यूनानी दृष्टिकोण का स्थान-संकलन अत्यन्त प्रारम्भिक माना जाना चाहिए। स्थान के विषय में मनोचित्य और अस्वाभाविकता का समावेश न हो, यह आवश्यक है। अतः चतुराई से उसकी सूचना भारतीय नाटकों में तो विष्कम्भक और प्रवेशक आदि के द्वारा दी जाती है अथवा दृश्यों, चित्रों और पर्दों आदि में स्थान स्पष्ट हो जाता।"

स्पष्ट है कि भारतीय नाट्यशास्त्रों का दृष्टिकोण पश्चिमी नाट्य

विदों से कहीं अधिक व्यापक और बुद्धिमत्तापूर्ण है। डा० मिश्र ने लिखा है कि ......'यूनानी स्थान-संकलन की धारणा से भारतीय विधान अधिक कलापूर्ण और स्वाभाविक है और इसमें कथावस्तु की घटनाओं के एक ही स्थान पर घटित होने की सीमा और संकीर्णता भी नहीं रहती इसलिए अब नाटकों में जहाँ पर अनेक वैज्ञानिक साधनों द्वारा स्थान का स्वाभाविकता के साथ प्रदर्शन किया जा सकता है, यूनानी धारणा के स्थान-संकलन का कोई मूल्य नहीं है।'

२. काल-संकलन—नाटक में जिन घटनाओं का वर्णन किया जाय उनमें कई वर्षों का व्यवधान न हो। उनके घटित होने में उतना ही समय व्यतीत हुआ हो, जितना कि नाटक के अभिनय में लगता है। इसी को काल या समय की एक (Unity of time) कहते हैं डा० भगीरथ मिश्र ने इस धारणा के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा है कि 'इसी का ध्यान रखकर प्राचीन यूनानी नाटक दिन रात चला करते थे। उतनी देर आधुनिक दर्शकों का बैठना असम्भव है उनके द्वारा अभिनीत घटना की इस प्रकार थोड़े समय की हो सकती थी। जीवन का व्यापक और पूर्ण स्वरूप अनेक वर्षों के बीच की घटनाओं का प्रदर्शन इस प्रकार नहीं हो सकता था।'

आगे भारतीय मत से उक्त मत की तुलना करते हुए वे स्पष्ट करते हैं 'भारतीय नाटकों में दृश्य और अंक परिवर्तन करके यह काल निकाल लिया जाता है। जितना समय बीच में बीत जाता था उसका संकेत आगामी दृश्य या अंक से मिल जाता था। इस प्रकार अंक परिवर्तन और रंगमंच की सजावट में विविधता के द्वारा काल और स्थल का संकेत करने से नाटक व्यापक जीवन की घटनाओं का प्रदर्शन किया जा सकता था। अतः काल-संकलन की भी धारणा यूनानी नाटक की प्रारम्भिक अवस्था की ही द्योतक है। भारतीय रंगमंच और अभिनय-पद्धति बहुविध विवरण पूर्ण विधान—काल और स्थल-संकलन की विकसित धारणा का द्योतक है। आज भी काल और स्थल का ध्यान रखा जाता है, अन्यथा नाटक अस्वाभाविक और घटनायें अविश्वसनीय लगने लगें, पर उसमें आने वाली बाधाओं को अनेक

उपायों और साधनों द्वारा दूर कर दिया जाता है।'

३. कार्य अथवा वस्तु-संकलन (Unity of Action) से अभिप्राय है—कथावस्तु की अविच्छिन्नता और एकरसता। डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में 'वस्तु संकलन के अन्तर्गत प्रासंगिक और प्रधान कथाओं के समुचित संगठन तथा स्वाभाविक अभिनय का ध्यान रखा जाता था। प्रासंगिक कथावस्तु का न तो इतना विस्तार होना चाहिए कि आधिकारिक कथावस्तु क्षीण लगने लगे और न आधिकारिक कथावस्तु से वह अलग ही जान पड़नी चाहिए।

अनेक नाटकों में यह देखा जाता है कि प्रधान कथा से असंबद्ध कोई हास्य-प्रधान कथा जोड़ देते हैं, जो अलग चलती है और आधिकारिक कथा से उसका कोई संबंध नहीं होता है। यह वस्तु-संकलन की दृष्टि से अनुचित भारतीय नाटकों की कथावस्तु के संगठन में इस तरह की अनौचित्य नहीं है, वरन् इसका बहुत ही सूक्ष्मता एवं सावधानी से सफल निर्वाह किया गया है। डा० मिश्र ने लिखा है, 'कार्यावस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों और पंच-सन्धियों के विधान में कथावस्तु पूर्ण संगठित हो जाती है। कार्य संकलन में अभिनय की स्वाभाविकता आती है। इसका ी भारत के नाट्य-शास्त्र में अत्यन्त विशद और विवरणपूर्ण उल्लेख किया गया है।'

उपर्युक्त संकलनत्रय की धारणा पर डा० मिश्र ने अपना निष्कर्ष इस प्रकार दिया है, '·········अतः भारतीय नाट्यशास्त्र में तीनों संकलन का ध्यान रखते हुए भी विकासशील दृष्टिकोण से काम लिया गया है, जबकि यूनानी नाटकों के संकलनत्रय की धारणा रूप, संकीर्ण और सीमित है। आगे चलकर पाश्चात्य नाटककारों ने स्वयं भी इनका पालन नहीं किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय नाट्यशास्त्रियों द्वारा विवेचित नाटक के प्रमुख चार तत्वों—वस्तु, नायक, रस और अभिनय तथा रंगमंच के भीतर ही देशकाल तथा वातावरण का तत्व भी अन्य पाश्चात्य नाटकीय तत्व की भाँति समाविष्ट है। इतना ही नहीं, भारतीय आचार्यों ने इस तत्व के सम्बन्ध में भी अपनी अतीव व्यापक, सूक्ष्म और वैज्ञानिक सूझ-बूझ का परिचय दिया है।

अन्त में बाबू गुलाबराय जी का मत भी इसी तथ्य की विवेचना के दर्भ में प्रस्तुत करना असंगत न होगा कि 'ये तीनों बातें (संकलनत्रय) नानी रंगमंच की आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप थीं। वहाँ के नाटकों दृश्य नहीं बदले जाते। सामूहिक गान द्वारा जिनको कोरस (Chorous) हते थे, दो दृश्यों में अन्तर डाल दिया जाता था। वही पर्दे का काम रता था। उनके रंगमंच पर वास्तव में स्थान बदलना नहीं था। इसी-ए वे स्थान की एकता पर जोर देते थे। यूनानी नाटक आजकल के टकों की भाँति दो या तीन घन्टे के नहीं होते थे। वे ही देर तक प्राय: दिन भर से भी अधिक) चलते थे। इसीलिए वे समय की काट-ट में विश्वास नहीं करते थे।'

आगे वे कार्य की एकता पर अपना विचार देते हैं—'कार्य की एकता से तो नाटक की प्रधान आवश्यकताओं में से है। इससे नाटक में अनुचित मा तक पहुंचा दिया था। यह उनके अनुकरण-प्रधान आदर्श के अनुकूल ा। वे रंगमंच और वास्तविक घटनाओं में भेदभाव नहीं रखना चाहते । किन्तु, कला अनुकरण-मात्र नहीं है, उसमें चुनाव रहता है। प्रभाव के ए घटनाओं को व्यवस्थित रूप में रखना पड़ता है। इसके अतिरिक्त सी घटना को समझने के लिए पूर्व घटी हुई बातों का बतलाना भी आव-क होना है।

………………नाटकों में केवल विवरण (Narration) से काम हीं चलता, उसमें क्रिया और प्रत्यक्ष अभिनय का अधिक मूल्य होता है। ं की घटनायें सब एक ही स्थान में घटित नहीं होतीं। आजकल का माज पहले से अधिक पेचिदा है। हमारे सम्बन्धों का जाल बहुत दूर तक ला रहता है। ऐसे समाज में स्थल की एकता का नियम बड़ा कठिन हो ाता है। इसके लिए पट-परिवर्तन का साधन भी अच्छा है। पर्दे के थ-साथ ही वातावरण बदल जाता है। आजकल लोग स्थलैक्य की क्यों रवाह करने लगे ? संस्कृत नाटकों में भी स्थलैक्य की परवाह नहीं की । शेक्सपीयर के 'टेम्पेस्ट (Tempest) के सिवाय और किसी नाटक

में इन नियमों का निर्वाह नहीं हुआ। मिल्टन के 'सेम्सन एगनीस्टीज' (Semlson Aognistes) में यूनानी आदर्शों का पूर्णतया निर्वाह हुआ है। संस्कृत नाटककार स्थान बदलने के लिए नाटक के भीतर ही पर्याप्त व्यवस्था रखते थे।'

'.........संस्कृत नाटकों में काल-संकलन का नियम किसी अंश में पाला जाता था। एक अंक में वर्णित कथा एक दिन से अधिक की होने का निषेध है और दो अंकों के बीच में एक वर्ष से अधिक का व्यवधान वर्जित था। पीछे के नाटककारों ने, विशेषकर रोमाण्टिनक स्कूल वाले, जिनमें शेक्सपीयर भी था, इन नियमों का पालन नहीं किया। यद्यपि अपने यहाँ यह नियम बड़ा कड़ा था '(वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित्'—नाट्य शास्त्र) तथापि इस नियम की भी 'उत्तररामचरितम' में अवहेलना हुई। पहले और दूसरे अंक के बीच में ही बारह वर्ष का व्यवधान है, किन्तु इस अन्तर को नाटककार ने बड़े कौशल के साथ दिखलाया है, आत्रेयी द्वारा बालकों के बारह वर्ष का हो जाना बतलाया है।......आचार्यों ने व्यायोग और समवकार (ये दोनों ही रूपक के दस भेदों में आते हैं) में आने वाली घटनाओं के लिए काल निश्चित कर दिया था।'

'कार्य की एकता हर समय के नाटकों में एक आवश्यक तत्व रहा है किन्तु एकता का मतलब शुष्क वैचित्र्यहीन एकता नहीं। प्रासंगिक घटनाओं का बिलकुल बहिष्कार कर नाटक में एकरसता लाना उसके महत्व को कम करना है। वैचित्र्य में ही एकता का महत्व है। एकरसता से तो जी ऊब जाता है। अनेकता में एकता स्थापित करना वस्तु को सौन्दर्यपूर्ण बनाना है। बिना अवयवों के संगठन कैसा? सूखे शहतीर की-सी निरवयव एकता निर्जीव हो जाती है। हरे-भरे वृक्ष-का-सा वैचित्र्यपूर्ण स्वन्धशाखामय ऐक्य ही दर्शकों के लिए नयनाभिराम होता है।'

'भरत मुनि' ने भी बहुत से कार्यों को एक अंक में लाने का निषेध नहीं किया है. किन्तु उनमें अविरोध रखना बतलाया है। यह कार्य की एकता है—

एकाङ्केन कदाचित् बहूनि कार्याणि योजयेद्धीमान् ।
आवश्यकाविरोधेन तत्र कार्याणि कार्याणि ॥' —नाट्यशास्त्र

अस्तु संकलनत्रय-संबंधी डा० भगीरथ का यह निष्कर्ष सर्वथा संगत व मान्य प्रतीत होता है, जिसे ऊपर प्रस्तुत किया जा चुका है ।

प्रश्न ५०—नाटक के तत्वों में विचार और उद्देश्य के तत्व का पाश्चात्य और भारतीय मतों का ध्यान रखते हुए संक्षिप्त विवेचन कीजिए ।

पाश्चात्य मत—साहित्य के उद्देश्य की भाँति ही नाटक का उद्देश्य भी विवादास्पद है । जिस प्रकार कुछ आलोचक साहित्य का उद्देश्य आत्माभिव्यक्ति मानते हैं उसी प्रकार कुछ नाटककार समाज की परिस्थितियों के यथार्थ और नग्न चित्रण को ही नाटक का उद्देश्य भी समझते हैं । कुछ पाश्चात्य समीक्षक साहित्य की भाँति ही नाटक का उद्देश्य भी जीवन की आलोचना या व्याख्या मानते हैं । ऐसे समीक्षकों का मत है कि साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति नाटक को भी जीवन की आंतरिक और बाह्य अनुभूतियों को इस रूप में चित्रित करना चाहिए कि वह एक विशिष्ट उद्देश्य को प्रस्तुत कर सके ।

किन्तु, यह स्मरणीय है कि नाटक में जीवन की यह मीमांसा साहित्य के दूसरे अंगों से कुछ भिन्न रूप में उपस्थित की जाती है । जैसे उपन्यासकार अपने जीवन संबंधी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, दोनों ही प्रकार से, कर सकता है, पात्रों के कथोपकथन के रूप में तथा यत्र-तत्र टीका-टिप्पणी द्वारा उसके उद्देश्य अभिव्यक्त हो जाता । किन्तु नाटककार प्रत्यक्ष रूप से दर्शकों या पाठकों के सम्मुख नहीं आ सकता, वह न तो अपने पात्रों के विषय में ही स्वयं कुछ कह सकता है और न टीका टिप्पणी द्वारा ही नाटककार अपने पात्रों के रूप में ही हमारे सामने आता है और पात्रों द्वारा ही वह उद्देश्य का अभिव्यक्त करता है ।

गुलाबराय जी के शब्दों में नाटककार जो कुछ स्वयं कहना चाहता

है, वह किसी पात्र द्वारा ही कहलाता है अथवा वह कथानक में व्यंजित रहता है। आजकल के बुद्धिवादी नाटकों में विशेषतया समस्यात्मक नाटकों में, इस उद्देश्य का प्राधान्य रहता है। मानव सहानुभूति का विस्तार तो प्रायः सभी देशी और विदेशी नाटकों का व्यापक उद्देश्य रहता है।

इस प्रकार नाटक के उद्देश्य और नाटककार के जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण के निर्णय करने का उत्तरदायित्व दर्शन पर होता है यह उद्देश्य चाहे कथानक मे व्यंजित हो, चाहे पात्रों के कथोपकथन द्वारा अभिव्यक्त हो, किन्तु उसके जानने का उपयुक्त ढंग यही है कि विभिन्न पात्रों के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय और फिर उसका उद्देश्य निर्धारित किया जाय। किसी एक पात्र के विचारों के आधार पर नाटककार के उद्देश्य को निश्चित कर लेना न तो संगत है और न भ्रमहीन। इस तथ्य को यहाँ व्यक्त करने का अभिप्राय यह है कि नाटककार अपने उद्देश्य की अभिव्यक्ति अपने किसी विशिष्ट पात्र द्वारा ही करवाता है और कुछ नाटक तो ऐसे ही होते हैं जिनमें किसी एक ऐसे पात्र की व्यवस्था रहती है। जो कि समयानुसार नाटककार के उद्देश्य कि अभिव्यंजना करता है, ऐसे पात्र तार्किक (Raisouiur) कहा जाता है। फिर भी, मात्र पात्र के आधार पर उद्देश्य—निर्धारण भ्रामक हो सकता है।

बाबू गुलाबराय जी ने कहा है कि 'पाश्चात्य देशों के नाटकों म कुछ न कुछ व्यक्त या अव्यक्त रूप से रहता है। कि वह किसी प्रकार की जीवन मीमांसा या विचार-सामग्री के रूप में आता है। इस उद्देश्य का सम्बन्ध आंतरिक और बाह्य संघर्षों से होता है। यह संघर्ष पाठकों के उद्देश्य के ग्रहण के लिए तैयार कर देता है।' वस्तुतः नाटककार द्वारा अभिव्यक्त उद्देश्य से निम्नांकित तथ्यों का ज्ञान होता है—

१. नाटककार हमारे सम्मुख कौन-सा नैतिक आदर्श प्रस्तुत करता है? और उसका जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण क्या है? साथ ही नाटक में व्यंजित उद्देश्य के जन-जीवन पर क्या और किस रूप में प्रभाव है?

२. नाटक चित्रित आदर्श, नाटककार के देश और समाज के नैतिक

तथा आध्यात्मिक आदर्शों को हमारे समक्ष उपस्थित करते हैं, जिससे हमें ज्ञात होता है कि उस नाटककार का देश एवं समाज नैतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से कितना उन्नत या पतित है।

३. नाटककार द्वारा अभिव्यक्त उद्देश्य में हमें यह भी ज्ञात हो जाता कि वह जीवन के प्रति आदर्शवादी दृष्टिकोण का समर्थक है या यथार्थवादी उसमें निराशा का प्राधान्य है या आशा का?

भारतीय दृष्टिकोण—ऊपर हमने पाश्चात्य मत को ध्यान में रखकर नाटक के उद्देश्य की विवेचना की है। अब हमें भारतीय मत के अनुसार भी विचार करना चाहिये। गुलाबराय जी के शब्दों में भारतीय परम्परानुसार नाटक में रस की मुख्यता दी गयी है और पाश्चात्य परम्परा के अनुसार उद्देश्य को।' दूसरे रूप में, पाश्चात्य आचार्यों ने नाटक में जहाँ उद्देश्य की विवेचना की है, वहाँ हमारे यहाँ रस की विवेचना हुई। हमारे देश में सर्वप्रथम नाटकों के विवेचन संदर्भ में ही रस का विवेचन हुआ और रस-सिद्धांत की स्थापना की गयी। डॉ० भगीरथ मिश्र के शब्दों में प्राचीन भारती दृष्टि से नाटक में रस का महत्वपूर्ण स्थान है। रस संचार के बिना कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। अतः रस निष्पत्ति नाटककार का प्रमुख लक्ष्य होता है।' इस प्रकार काव्य की आत्मा रस की व्यापकता को आचार्यों ने नाटक में भी प्रधान रूप से स्वीकार करके नाटक के उद्देश्य रूप से माना है।

यह 'रस एक प्रकार का विशेष आनन्द है जो काव्य के पाठन श्रवण अथवा नाटक अभिनय देखने से सामाजिक को प्राप्त होता है' डा. भगीरथ मिश्र' इस विशेष आनन्द यानी रस का संपादन भरत मुनि के अनुसार विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से होता है—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।' कहना न होगा कि यह रस केवल शास्त्रीय वस्तु की नहीं वरन् व्यावहारिक अनुभवगम्य वस्तु है नाटक में किसी एक रस की ही प्रधानता होती है और शेष रस गौण रूप से आते हैं और उनका मुख्य उद्देश्य प्रधान रस के उत्कर्ष का वर्द्धन करना ही होता है।

'शृंगारहास्य करुण रौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेतत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ।

अर्थात् शृंगार, हास्य, करुण रौद्र, वीर, भयानक बीभत्स और अद्भुत ये आठ रस ही नाटक में होते हैं यद्यपि बाद में काव्य में रसों की संख्या नौ, दस और ग्यारह तक (शान्त वात्सल्य और भक्ति को जोड़कर) मानी गयी है। (रस का विवेचन अन्यत्र विस्तार में कर दिया गया है। पाठक वहीं देख लें। विशेषकर रसांगों का वर्णन यहाँ देना चाहिए ।)

प्रश्न ५१—नाटक में अभिनेयता' का तत्व कहाँ तक महत्वपूर्ण है। अभिनय के प्रकारों का संक्षिप्त परिचय देते हुये इस तत्व का मूल्यांकन कीजिये ।

नाटक का मुख्य प्रतिपाद्य रस है, इस रस की प्राप्ति अभिनय के दर्शन में ही सम्भव है—यह भारतीय आचार्यों का दृष्टिकोण है। अतः अभिनेयता को नाटक का प्रमुख तत्व माना गया है। वैसे, हमारे प्राचीन नाट्यशास्त्रियों ने अभिनय को कोई पृथक् तत्व तो नहीं माना है और वस्तु नेता रस रसस्तेषां भेदकः' (दशरूपक) अर्थात् वस्तु नेता और रस—इन तीनों के ही नाटक के मूल तत्व के रूप में मान्यता देकर रूपकों का वर्गीकरण किया गया है। किन्तु इन तत्वों के साथ अभिनय का नाम इसलिए नहीं दिया गया है कि तभी रूपकों में सामान्य रूप से व्याप्त रहता है। फिर भी, उन्होंने अभिनय का बहुत ही सूक्ष्म विश्लेषण किया है और कथोपकथन को भी इसी में समेट लिया है। इतना ही नहीं अभिनय के ही प्रसंग मे रंगमंच को भी विस्तृत करके उन्होंने अपनी व्यापक एवं वैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया है। यही कारण है कि भारतीय नाट्यशास्त्र की समीक्षा के सन्दर्भ में अभिनेयता को एक प्रधान तत्व के रूप में मान्यता मिली है।

बाबू गुलाबराय जी ने कहा है—'अभिनय नाटक का प्रधान अंग है। अभिनय से नाटक का उदय हुआ है और अभिनय तथा रंगमंच के सुभीतों की कमी बेशी के साथ-साथ भिन्न-भिन्न देशों की नाट्यकला में

विकास हुआ है' हमारे प्रसिद्ध एवं प्राचीनतम नाट्यशास्त्री भरत मुनि' ने नाटक के इस तत्त्व का विशद विवेचन किया।

'अभिनय' शब्द को देखें, तो इसकी उत्पत्ति 'अभि' उपसर्ग के साथ णीञ्' धातु के संयोग से हुई है, जिसका अर्थ है—पहुंचना। इस प्रकार अभिनय द्वारा नाटक की सामग्री, अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति की ओर पहुंचायी जाती है।

अभिनय के प्रकार—संस्कृत के नाट्यशास्त्रियों के अनुसार चार हैं—।

१. आंगिक या कायिक. २. वाचिक. ३. आहार्य और ४. सात्त्विक

१. आंगिक अभिनय—को कायिक अभिनय भी कहा जाता है जिसमें अंगो के संचालन के विभिन्न प्रकार बताये गये हैं। इसके भी तीन भेद हैं—१. शरीर २. मुखज और ३. चेष्टाकृत।

(१ शरीर अभिनय—में शरीरांगों. जैसे—सिर. हाथ. पैर. कमर एवं उपयोगों. जैसे भ्रू. नेत्र उँगली. होंठ. चिबुक आदि के द्वारा अर्थ एवं भाव का प्रदर्शन आता है।

(२) मुखज अभिनय—के अन्तर्गत मुख की विभिन्न आकृतियों से किये जाने वाले अभिनय आते हैं।

(३) चेष्टाकृत—अभिनय वे हैं. जो चेष्टा-सम्बन्धी हों. जैसे-दौड़ना टटोलना. तैरना आदि।

२. वाचिका अभिनय—का सम्बन्ध वाणी से है। इसके अन्तर्गत विविध प्रकार के शब्द करना. बोलना. पाठ करना. गाना आदि सभी सम्मिलित हैं। विभिन्न शास्त्रों. जैसे—स्वरशास्त्र. छन्दशास्त्र. व्याकरण आदि तथा भाषा-प्रयोग. काकु (कण्ठध्वनि) से सम्बन्धित ज्ञान इसके लिए आवश्यक हैं।

इनके माध्यम से अर्थ और भाव का प्रकाशन होता है। विभिन्न पात्रों के संबोधन और बोलने के विभिन्न प्रकार हैं अर्थात् कहाँ शुद्ध भाषा का और

१ 'आंगिको वाचिकश्चैव आहार्यः सात्त्विकस्तथा।
ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्रश्चतुर्धा परिकल्पितः ॥'

कहाँ विकृत भाषा का प्रयोग हो तथा किस व्यक्ति को क्या कहकर संबोधित किया जाय ?—यह सब वाचिक अभिनय के अन्तर्गत आता है।

वस्तुः इसका संबंध कथोपकथन से है। भारतीय आचार्यों ने कथोप-कथन को पाश्चात्य विद्वानों की तरह एक अलग तत्व न मानकर उसे वाचिक अभिनय के ही अंतर्गत समेटते हुए उसकी सूक्ष्म विवेचना की है, उनके अनुसार कथोपकथन के तीन भेद हैं-१. सर्व-श्रव्य, २. अश्रव्य और ३. नियत श्रव्य।

सर्वश्रव्य—वे कथन हैं जो सब के सुनने के लिए हैं और इसलिए इसे प्रकाश्य-कथन भी कहा जाता है।

अश्रव्य—कथन सबके सुनने के लिए नहीं होते। इसे ही आत्मगत या स्वगत कथन कहा जाता है।

नियतश्रव्य—वे कथन हैं, जिन्हें कुछ पात्र सुन सकते हैं, कुछ नहीं। इसके दो रूप हैं—१. अपवारित और जनान्तिक।

इसके अलावे कथोपकथन का एक चौथा प्रकार है—आकाशभाषित या आकाशवचन।

[विशेष—पाठक इनका विस्तृत उल्लेख कथोपकथन के प्रश्न के उत्तर में देखें। यहाँ विस्तार अभीष्ट नहीं है, अतः छोड़कर आगे बढ़ रहे हैं।]

३. आहार्य अभिनय—के अन्तर्गत वेशभूषा अलंकरण आभूषण, रंगों के प्रयोगादि से भावों और अर्थों का प्रकाशन सम्मिलित है। इसके अंतर्गत विविध पात्रों के अनुरूप वेश-भूषा और अलंकरण का पृथक-पृथक विधान किया गया है। नाट्यशास्त्र में विविध वर्गों-वर्णों, और देशों के व्यक्तियों की वेश-भूषादि का बहुत ही विशद वर्णन किया है। इस में स्त्री एवं पुरुष दोनों पात्रों का उल्लेख है।

४—सात्विक अभिनय-में सात्विक भावों और हावों आदि का अभिनय सम्मिलित है। स्वेद, रोमांच, कंप, स्तम्भ, अश्रु प्रवाह आदि का अनुकरण इसमें ही मुख्य रूप से गृहीत है।

डा० भगीरथ मिश्र ने सात्विक एवं कायिक अभिनय का अन्तर बताते हुए लिखा है—' भाव और रसों का अभिनय सात्विक के अन्तर्गत माना गया है, जबकि कायिक अभिनय में चेष्टा, गति तथा अन्य लौकिक

क्रियाकलापों का अभिनय आता है। सात्विक अभिनय सूक्ष्म अन्तस्थ भावों का प्रकाशन है, जबकि कायिक अभिनय बाह्य चेष्टाओं और लोकव्यापारों की अभिव्यक्ति का साधन है। इस प्रकार दोनों में भेद है।'

विशेष—यहाँ स्मरणीय है कि मात्र सात्विक अभिनय का ही सम्बंध रसों से नहीं है वरन् समस्त अभिनय से ही रस की अभिव्यक्ति और प्राप्ति होती है। दूसरी बात यह ध्यान देने की अभिनय से ही नाटक की वृत्तियों का भी संबंध है। वृत्तियाँ वस्तुत: भाव और अर्थ की अभिव्यक्ति की शैलियाँ ही हैं और प्राचीन आचार्यों ने उन्हें रसास्वादन के प्रधान कारण के रूप में स्वीकार किया है। नाट्यशास्त्र के प्रणेता 'भरत-मुनि' ने इन्हें नाटकों की माताएँ कहा है—

'एता बुधैर्ज्ञेया वृत्तयो नाट्यमातरः।'

इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण नाटकीय कथावस्तु की गतिविधि से होता है और पात्रों की अभिनयात्मक स्थितियाँ भी इसी से सम्बन्धित होती हैं।

वृत्तियों की संख्या चार हैं—१. भारती, २. सात्विती, ३. कैशिकी और ४. आरभटी।

१-भारती वृत्ति—का संबंध भारतों यानि नटों से है अत: इसे भारती कहा गया है इनकी उत्पत्ति ऋग्वेद से मानी गयी है। इसमें स्त्रियों को स्थान प्राप्त नहीं है। इसमें पात्रों की भाषा संस्कृत होती थी। यह सभी रसों से संबंध रखती है। नाटकों के प्रारम्भिक दृश्यों या कृत्यों से इसका सम्बन्ध विशेष रूप में माना जाता है। इसमें वाग्वैचित्र्य अथवा वाणी का कौशल प्रधान होता है, फलत: पुरुषों के लिए यह वृत्ति अधिक उपयोगी है। इसके चार भेद माने गये हैं। (उनकी चर्चा यहाँ अभिप्रेत नहीं है, पाठक अन्यत्र देख सकते हैं।)

२-सात्विती वृत्ति—की उत्पत्ति यजुर्वेद से मानी गयी है। इसका संबंध वीर, रौद्र और अद्‌भुत रसों से है। इसमें उदात्त पुरुषों के कार्यों का वर्णन होता है। उदाहरणार्थ, वीरता, हर्ष, संघात आदि सत्व संबंधी कार्यों की इसमें प्रधानता के कारण यह विशेष आनन्दप्रद है।

३-कैशिकी वृत्ति उद्‌भव सामवेद से है जिसमें विलास और लालित्य प्रकट कर तथा गीत, नृत्त-नृत्य, रति आदि के प्रदर्शन की प्रधानता होती है। अत: यह मनोहर और माधुर्यमयी है। इसमें स्त्रियों को ही मुख्य

स्थान मिलता है शृंगार और हास्य में इसका उपयोग होता है; अन्य रसों में नहीं। इसके भी चार भेद बताये हैं।

४—आरभाटी वृत्ति—का जन्म अथर्ववेद से माना जाता है। इसमें छद्म, झूठ, माया इन्द्रजाल, विचित्रता आदि का प्रदर्शन होता है। इसमें भयानक, वीभत्स और रौद्र रस से ही इसका सम्बन्ध होता। इसमें हानि लाभ संघर्ष, घात-प्रतिघात, क्रोध और भय आदि की अभिव्यक्ति या प्रदर्शन की प्रधानता होती है।

वृत्तियों का उल्लेख करने के बाद यह कहना असंगत न होगा कि हमारे आचार्यों ने नाटक की अभिनेयता को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है और उसके द्वारा नाटक की रसाभिव्यक्ति के लिए कथोपकथन तथा वृत्तियों का भी उसी की सीमा में विश्लेषण किया है। इस प्रकार उन्होंने पाश्चात्य विद्वानों के उद्देश्य और विचार के स्थान पर रस को प्रतिस्थापित करके अभिनय के भीतर ही कथोपकथन को और उसकी वृत्तियों के अन्तर्गत शैली तत्व को समावेशित कर लिया है। यही कारण है कि नाटक के प्रमुख तत्वों में भारतीय मतानुसार कथोपकथन और शैली-तत्व को अलग स्थान नहीं मिला है और पश्चिमी मत में अभिनेयता को अलग तत्व नहीं माना गया नाटक का उद्देश्य और विचार तत्व भी अभिनय से ही अभिव्यक्त होता है—यदि पश्चिमी मतानुसार इसे हम अलग तत्व मानें, नहीं तो भारतीय मतानुसार रस की अभिव्यक्ति ही अभिनय का उद्देश्य है।

इस प्रकार अभिनेयता का महत्व स्वीकार कर लेने के बाद इसी से संबधित एक बात और भी जान लेने के योग्य है, वह है-रंगमंच के लिए वस्तुः यही अभिनेयता का आधार है। नाटक की रचना रंगमंच के लिए-अभिनय के लिए ही होती है। कारण है कि हमारे नाट्य शास्त्रियों ने अभिनय के साथ ही रंगमंच का भी विशद विवेचन किया है। विस्तार में जानना हमारा अभिप्राय तो नहीं है, फिर यहाँ यह कहना ही नाटक उपलब्ध है, जो रंगमंच पर आजकल बहुत विवाद है। आजकल अनेक ऐसे नाटक उपलब्ध है जो रंगमच पर अभिनीत नहीं हो सकते। जैसे जयशंकर प्रसाद के नाटक किंतु उनका विचार है कि नाटक के योग्य रंगमंच होना चाहिए, न कि रंगमंच के लिए नाटक। रूस में योग्य रंगमच पर चन्द्रगुप्त नाटक अभिनीत हो चुका है पर भारत में नहीं।) जो भी हो नाटक का अभिनीत होना आवश्यक है, नहीं तो वह दृश्य काव्य न हो।

प्रश्न १२–रेखाचित्र की परिभाषा दीजिये तथा कहानी और संस्मरण से उसका संबंध या इन सबकी पारस्परिक विभिन्नताओं का उल्लेख करते हुये रेखाचित्र के तत्वों पर प्रकाश डालिये।

'रेखाचित्र' वस्तुत: 'चित्रकला' का शब्द है, जिसे हिंदी साहित्य के गद्य प्रबंधक के सूक्ष्म भेद के लिए विशेष अर्थ में प्रयुक्त किये गये हैं। इस विशेष अर्थ को समझने के लिए पूर्वोक्त सीमा में इन शब्दों के प्रयोग और अर्थ को देखना आवश्यक है। जिस प्रकार कोई चित्रकार अपने तूलिका द्वारा रंगों के उपयोग से कोई चित्र बनाता है–चित्र की रेखाओं में रंग भरता है और उससे रेखाचित्र तैयार हो जाता है, ठीक उसी प्रकार रेखा-चित्रकार शब्दों के माध्यम-लेखनी द्वारा शब्दों के गुम्फन से चित्र प्रस्तुत करता है। अत: इसे रेखा चित्र और शब्द चित्र, दोनों नाम दिये गये हैं। वस्तुत: हिंदी गद्य की यह नवीन विधा है। इसे ही अंग्रेजी में 'स्केच' भी कहते हैं।

परिभाषा—डा० भगीरथ मिश्र ने रेखा-चित्र की परिभाषा इस प्रकार दी है—

'अपने सम्पर्क में आये हुए किसी विलक्षण व्यक्तित्व अथवा संवेदना जगाने वाली सामान्य विशेषताओं से युक्त किसी प्रतिनिधि चरित्र के मर्म-स्पर्शी स्वरूप को देखी-सुनी या-सकलित घटनाओं की पृष्ठभूमि में, इस प्रकार उभार कर रखना कि उनके और हमारे हृदय में एक निश्चित प्रभाव अंकित हो जाय. रेखा, चित्र या शब्द-चित्र कहलाता है।'

आगे उन्होंने यह बताया है कि 'यह गद्य-पद्य दोनों में ही हो सकता है, पर आजकल प्रधानतया इसका विकास गद्य में देखने को मिलता है।'

रेखाचित्र और कहानी में अन्तर डा० मिश्र ने रेखाचित्र और कहानी की भिन्नताएं इस प्रकार की हैं—

१. कहानी का उद्देश्य जहाँ पर कथानक' चरित्र, वर्णन, कथोप-कथन, शैली, और उद्देश्य सबका समन्वित रूप से कलात्मक संगठन होता है, जहाँ पर चित्रण का प्रमुख उद्देश्य चारित्रिक उभार हैं। (चित्रण का है अर्थ रेखा चित्रण से या शब्द चित्रण से ही है।)

२. 'कहानी कल्पना पर आश्रित रहती है, पर शब्द चित्र किसी

देखे-सुने अनुभव से टकराये वास्तविक व्यक्ति की चारित्रिक विशेषताओं का मर्मस्पर्शी चित्रण होता है।

२. बाबू गुलाबराय ने लिखा है 'कि इन में (रेखा-चित्र में) सजीव पात्रों के बाहरी आपे के साथ चरित्र का भी चित्रण रहता है किंतु चरित्र-प्रधान कहानियों की अपेक्षा ये अधिक वास्तविकता पर निर्भर रहते हैं। इनके रचने में कल्पना का अवश्य काम पड़ता है, किंतु, इनके विषय काल्पनिक नहीं होते हैं। इन रेखाचित्रों में लेखक के दृष्टिकोण को कुछ अधिक मुख्यता मिलती है। (यद्यपि वह उस व्यक्ति या वस्तु के सम्बन्ध में दूसरों का दृष्टिकोण व्यक्त कर देता है।)

स्पष्ट है कि रेखाचित्र मात्र व्यक्ति या चेतन प्राणी का भी होता और वस्तु निर्जीव का भी। अत: कहानी और रेखा-चित्र का विषयवस्तु) लगभग एक सी है।

३. कहानीकार घटनाओं का संगठन करके कल्पना में विभिन्न परि-स्थितियों को लाकर फिर किसे, पहलेया बाद मेंरखें—यह सोचता-विचारता है; पर शब्द चित्रकार तो अपने अनुभव का विश्लेषण कहीं से भी प्रारम्भ कर देता है और अपने हृदय पर पड़े व्यक्तित्व और प्रभाव को सजीवता के साथ संस्मरणात्मक ढंग पर स्पष्ट करता जाता है।

संस्मरण और रेखाचित्र का सम्बन्ध—बाबू गुलाबराय जी का कथन है कि 'इनमें (रेखाचित्र में) वर्णन का प्राधान्य रहता है किन्तु ये वर्णन प्राय: संस्मरणों से संबंधित रहते हैं।' संस्मरण भी रेखाचित्र की भांति व्यक्ति से संबंधित होते हैं। डा॰ भगीरथमिश्र लिखते हैं, 'शब्दचित्र वास्तव में, किसी एक संस्मरणों का कलात्मक संगठन है।"

इन दोनों का अन्तर—१. डा० मिश्र के शब्दों में, संस्मरण किसी प्रसिद्ध व्यक्ति के होते हैं और प्राय: मृत्यु के उपरान्त लिखे जाते हैं, हर शब्द-चित्र में किसी भी अप्रसिद्ध उपेक्षित व्यक्ति का भी प्रभावकारी विशेषताओं का जीता-जागता रूप प्रस्तुत किया जाता है।"

२. गुलाबराय के शब्दों में, जहां रेखाचित्र वर्णनात्मक अधिक होते हैं, (वहां) संस्मरण विवरणात्मक अधिक होते हैं। संस्मरण, जीवनी साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। वे प्राय: घटनात्मक होते हैं, किन्तु वे घट-नाएं सत्य होती हैं और साथ ही चरित्र का परिचायक भी।"

इससे स्पष्ट है कि रेखाचित्र और संस्मरण दोनों ही सत्यता और वास्तविकता पर आधारित होते हैं और चरित्र पर प्रकाश डालते हैं, किन्तु रेखाचित्र व्यक्तित्व प्रधान होते हैं और संस्मरण घटना-प्रधान या अतः दोनों की दो विधाएं स्पष्ट अलग हो जाती हैं।

३. 'संस्मरण चरित्र के किसी एक पहलू की झांकी देते हैं, किन्तु रेखाचित्र व्यक्ति के व्यापक व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हैं। उसमें व्यक्ति का भीतरी और बाहरी आपा या स्वरूपता कुछ स्पष्ट रेखाओं में व्यक्त हो जाती है।" —(गुलाबराय)

४. 'उसमें (रेखाचित्र में) कुछ व्यंग्य चित्रकार की सी प्रवृत्ति रहती है। उसमें व्यक्ति की प्रवृत्तिगत विशेषताएँ कुछ बढ़ा-चढ़ाकर दिखाई जाती है, जिससे सहज में आकर्षण का विषय बन सके। रेखाचित्र जितना सत्य के निकट हो, उतना ही अच्छा है। उसमें थोड़ी अतिरंजन विनोद की सामग्री अवश्य उपस्थित कर देती है, किन्तु विनोद चुटीला न होना चाहिए।" —(गुलाबराय)

रेखाचित्र के विषय में यह कथन संस्मरण पर भी बहुत कुछ लागू होता है उसमें भी व्यंग्य-विनोद की प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं और उसे आकर्षक बनाने तथा सत्यता के निकट रखने का प्रयत्न होता है। किंतु रेखाचित्र में 'व्यक्ति की प्रवृत्तिगत विशेषताएँ' जितनी मात्रा में स्पष्ट होती हैं, संस्करण में उतनी नहीं, क्योंकि वह व्यक्ति के चरित्र के एक ही पहलू की ही झांकी प्रस्तुत करता है।

रेखाचित्र के तत्व—रेखाचित्रों के तत्वों के पृथक्-पृथक् उल्लेख और वर्णन अभी तक नयी विधा होने के कारण अध्ययन के अभाव में नहीं हो सका है, फिर भी उसके तत्व अलग किये जा सकते हैं, जो इस प्रकार हैं—

[१] व्यक्ति तथा वस्तु, [२] पृष्ठभूमि, [३] आशय तथा शैली [४] चित्रात्मकता और [५] आत्मा। हम इनका यहाँ संक्षिप्त उल्लेख करेंगे।

१. व्यक्ति तथा वस्तु—रेखाचित्र में जहाँ एक ओर लेखक का किसी-किसी वस्तु अथवा व्यक्ति विशेष का अपना निजी अध्ययन होता है वहाँ दूसरी ओर उस व्यक्ति अथवा विशेष का वास्तविक चित्रण भी रहता है जड़ वस्तु का रेखाचित्र खींचते समय अथवा अन्त में यह लिखना आवश्यक होता है कि वह लेखक तथा अन्य लोगों को—स्थानीय दर्शकों को—वह वस्तु कैसी लगती है।

जड़ वस्तु के अलावा रेखाचित्र ऐसे चेतन प्राणियों पर भी लिखे जा सकते हैं, जो न तो मनुष्य की भाँति विवेकशील होते हैं और न बोल ही सकते हैं, पर अपने जीवन के सुख-दुख तथा आरोह-अवरोह को वे अपने संकेतों द्वारा अभिव्यक्त कर सकते हैं। इस श्रेणी में पशु आते हैं।

स्केच या रेखाचित्र का तीसरा महत्वपूर्ण विषय-मनुष्य। संसार की अन्य जड़ वस्तुओं और मूक पशुओं की तुलना में मनुष्य सर्वाधिक विवेकवान और संवेदनशील होता है। अतः रेखाचित्र में उसके व्यक्तित्व एवं चरित्र की विशेष रेखाओं का वास्तविकता के आधार पर स्पष्ट चित्रण अंकित करना आवश्यक होता है। सारांश यह है कि वह (रेखाचित्रकार) प्रकृति की जड़ अथवा चेतन किसी भी वस्तु को अपने शब्द-शिल्प से संजीव कर देता है। (बनारसीदास चतुर्वेदी—'विशाल भारत जुलाई १६३७।

३. पृष्ठभूमि—रेखाचित्र की पृष्ठभूमि यथार्थ होती है। डा. भगीरथ मिश्र ने लिखा है, 'नाटक का वर्णन यथार्थ की पृष्ठभूमि पर प्रस्तुत करना है जिसमें झूठ या बनावटी बातों का स्थान नहीं मिलता है परिस्थिति के बीच उनका उभार होता है जिसमें उसकी चारित्रिक विशेषता होती है, चित्र की भाँति परिस्थितियों और घटनाओं का उतना ही चित्रण होता है जितना कि संवेदना जाग्रत करने और परिचय पाने के लिए आवश्यक होता है।

व्यक्ति की भाँति ही वस्तु के चित्रण में भी यही बात है वर्ण्य विषय की पृष्ठभूमि के सम्बन्ध में ही शिवदत्त सिंह चौहान के प्रगतिवाद नामक पुस्तक का एक वाक्य द्रष्टव्य है—

चूँकि रेखाचित्र एक चित्र है इस कारण इसका वर्ण्य विषय कल्पना प्रधान भी हो सकता है और वास्तविक भी।

यहाँ यह स्मरण है कि हमने ऊपर अन्य विद्वानों के मत प्रस्तुत किये है, उनमें भी यही बात प्रकट होती है।

३. आशय तथा शैली—रेखाचित्र में लेखन का उद्देश्य या आशय पाठक के सामने अपने अभीष्ट पात्र या वस्तु का एक स्पष्ट चित्र अंकित मात्र होता है। अत. उसकी शब्दावली तथा वाक्यों का संगठन होना चाहिये कि जिससे वर्ण्य चरित्र के संबंध में अधिक कुछ जानने की उत्कंठा ही में न रहे।

इसी तथ्य को लक्ष्य करके 'शिवदान सिंह चौहान' ने कहा—

'कला के अन्दर रेखाचित्र की एक स्वतंत्र सत्ता है। उसे पढ़ने के बाद पाठक को समाज या व्यक्ति की जीवन धारा के अगले मोड़ प्रभाओं को जानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वह उसे पूरी तस्वीर को पकड़कर सन्तुष्ट हो जाता है।

रेखाचित्र के लिये यह भी आवश्यक नहीं है कि उस में अभिप्रेत व्यक्तित्व की साधारण, छोटी से छोटी और हल्की से हल्की रेखा को स्थान दिया जाय।

डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में—'शब्द चित्र का प्रमुख उद्देश्य चरित्र को सजीवता से स्पष्ट करके हृदय परिष्कार, धारण परिवर्तन उदारता का विकास, लोक हृदय का निर्माण, न्याय के प्रति जागरूकता, वेदना दुखियों के प्रति करुण: आदि भाव को जाग्रत करना है। इस प्रकार प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण जीवन का आदर्श स्थापित करना और जीवन के वास्तविक रूपों अनुभवों में रम लेना शब्दचित्र का मुख्य उद्देश्य की पूर्ति निश्चय ही रेखाचित्र की शैली पर आधारित है।

रेखाचित्र को शैलीगत विशेषताएँ—डा० मिश्र के ही शब्दों में इस प्रकार है—

'शब्द चित्र की सफलता लेखक की शैली पर आधारित है। वर्णन शैली मे हास्य व्यंग्यपूर्ण, चुभते हुये विशेषण, नयी, किन्तु तुली हुई शब्दावली होती है, जिसमें वैयक्तिक सम्पर्क की आत्मीयता और सहानुभूति का सामंजस्य होता है। बीच-बीच में पात्र के मुख से वास्तविक एवं स्वाभाविक वार्तालाप में लेखक की विशेषता ही प्रकट होती। लेखक की शैली मे कहीं-कहीं कवित्वपूर्ण शैली भी दृष्टिगोचर होती है।"

४. चित्रात्मक—रेखाचित्र के लेखक को चित्रण में बहुत ही कुशल होना चाहिये, नहीं तो वह सजीव और मार्मिक चित्रण नहीं कर सकता।

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'विशाल भारत में लिखा था कि 'वह (लेखक) प्रकृति की जड़ अथवा चेतना किसी की वस्तु को अपने शब्द-शिल्प से सजीव कर देता है जिस आदमी को जीवन के विविध अनुभव प्राप्त नहीं हुये, जिसने आंख खोल कर दुनिया को नहीं देखा, जिसे कभी जीवन संग्राम में जूझने का अवसर नहीं मिला, जो संसार के भले बुरे आदमियों के संसर्ग मेंनहीं आया मनोवैज्ञानिक घात प्रतिघातों का जिसने

अध्ययन नहीं किया और जिसने एकांत में बैठकर जिन्दगी के भिन्न-भिन्न प्रश्नों पर विचार नहीं किया, भला वह क्या सजीव चित्रण कर सकता है।

अत: रेखाचित्र के लेखक को अत्यन्त कठोर साधना के पथ से गुज-रना पड़ता है, तभी वह अपने चारों ओर फैले हुये विस्तृत समाज के किसी भी अंग अथवा पक्ष का चित्रण अपनी लेखनी तुलिका से ऐसा सजीव कर सकता है कि पाठक यह अनुभव करने लगे कि मैं वर्ण्य वस्तु के अत्यन्त निकट हूं और उसका साक्षात्कार कर रहा हूं।

डा० भगीरथ मिश्र का कथन है कि 'लेखक अपने अनुभव के प्रमाण के साथ व्यक्ति की रूप रेखा और व्यक्तित्व को स्पष्ट करने का प्रयास करता है। रूप रेखा मुद्राओं और चेष्टाओं का यथार्थ चित्रण होता है, जिससे उस व्यक्ति की चारित्रिक झांकी सी प्राप्त होती है। चरित्र की विशेषताओं का विश्लेषण, मानसिक स्थिति, दूसरों के साथ व्यवहार संकट की परिस्थितियों में कार्य, परोपकार और देश प्रेम आदि का चित्रण प्रमुख रूप से होता है।' इसके लिए लेखक ऐसे शब्दों को कागज पर उतारता है जिससे कि वर्ण्यवस्तु का आकृत चित्र पाठक की आंखों के सामने झूलने लगता है।

५. आत्मा रेखा चित्र की आत्मा है—भाव और संवेदना की जागृति। वस्तुत: रेखाचित्र के पाठक के भाव लेखक के वर्णन मे प्रकट होते हैं। करुण हास, प्रेम जो प्रमुख भाव हैं, भाव भी शब्दचित्र से उठते हैं। प्रमुख भावों के उभार में लेखक भाषा शैली तथा सूक्ष्म दृष्टि महत्वपूर्ण है भाव के संवे-दना को जग्रत करने म लेखक का व्यक्तित्व तटस्थ रहता है। परन्तु उसके वर्णन में सहानुभूति, विनोदी व्यक्तित्व करुणा, व्यंग्य, आत्म-प्रकृति और अनुभव का सामंजस्य रहता है। लेखक का यही साजमंस्य हमारी भाव-नाओं और सवेदनाओं को जाग्रत करने में सफलता प्राप्त करता है।'

(डा० भगीरथ मिश्र।)

कहना न होगा कि इस सफलता में चित्रण की सजीवता और विशे-षता का प्रधान स्थान है। सजीव चित्रण ही हमारी संवेदनाओं और भावों के प्रस्फुटन और अभिव्यक्ति का एक मात्र आधार है। इसके अभाव में रेखाचित्र आत्मारहित शरीर की भाँति नीरस वाक्य-समूह के रूप में होगा जिसे रेखाचित्र कहा ही नहीं जा सकता।

प्रश्न ६३—'समालोचना' की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए उसके उद्देश्य का स्पष्टीकरण कीजिये तथा आलोचक के गुण बताइये।

समालोचना का अर्थ एवं परिभाषा—सामान्य रूप से 'समालोचना' शब्द का अर्थ गुण-दोष का विवेचन समझा जाता है। साहित्यशास्त्र के अन्तर्गत इस शब्द का अर्थ की अपेक्षा कुछ विशिष्ट अर्थ किया जाता है। संस्कृत धातु 'लुच्' (जिससे लोचन = आँख शब्द बना है।) से ही 'आ' उपसर्ग जोड़कर 'आलोचना' शब्द बना है और फिर उसमें 'सम्' उपसर्ग जोड़ देने पर 'समालोचना' शब्द की रचना की गयी है—यों तो आलोचना और 'समालोचना' शब्द बनाने और उसके प्रयोग की आवश्यकता पड़ी। दूसरे में कोई विशेष अर्थ-संबन्धी अन्तर तो नहीं है, किंतु फिर भी 'आलोचना' से काम न चलने पर ही, 'समालोचना' शब्दों में, जब 'आ' उपसर्ग में काम नहीं चला तो 'सम्' उपसर्ग इसमें और लगाना पड़ा। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि 'लुच' = देखना—समीक्षा करना के अर्थ के साथ आलोचना शब्द अपने कार्य की पूरी अभिव्यक्ति नहीं कर पाता था, तो उसकी व्यापकता अथवा सम्यक् अर्थ बोध के लिये लोगों ने 'सम्' उपसर्ग के साथ समालोचना शब्द का व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया। यह सूक्ष्मता की बात है, किन्तु मोटे रूप में आलोचना और समालोचना एक ही है, अतः भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये। इन दोनों शब्दों के लिए अंग्रेजी में एक ही शब्द Critcism आता है।

उपर्युक्त बात को ध्यान में रखें, तो आलोचना का अर्थ या मुख्य क्षेत्र साहित्य के विविध पक्षों की समीक्षा का सूक्ष्म विवेचन ही है। इसी दृष्टि से, यह आशा की जाती है कि साहित्य की आलोचना विद्वता पूर्ण, अधिकारपूर्ण और निर्णयात्मक होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में साहित्यिक आलोचना को किसी भी विषय पर अधिकारपूर्ण विवेचन करके उसके गुण-दोष-प्रदर्शन के साथ अपना निर्णयात्मक मत प्रस्तुत करना चाहिये। किन्तु, आधुनिक युग में आलोचना या समालोचना साहित्य के अन्तर्गत केवल उपर्युक्त प्रकार की आलोचना को ही ग्रहण नहीं किया साहित्य के

विषय में लिखे गये सम्पूर्ण समीक्षात्मक, विश्लेषणात्मक तथा व्याख्यात्मक साहित्य को भी ग्रहण किया जाता है।

हम सभी जानते और मानते हैं कि कविता, नाटक, उपन्यास और कहानी आदि साहित्य की विविध विधाओं से जीवन का सम्बन्ध है। और उनमें जीवन की व्याख्या होती है। आलोचना की विधा में साहित्य की अन्य विधाओं कविता, नाटक, उपन्यास आदि की तो व्याख्या होती ही है आलोचनात्मक कृतियों कीभी व्याख्या हो सकती है, और होती है। अतः यदि सम्पूर्ण साहित्य को हम जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की भी व्याख्या मानना पड़ेगा। इस प्रकार कहा जा सकता है कि—

साहित्य के क्षेत्र में समीक्षात्मक, विश्लेषणात्मक अथवा निर्णयात्मक दृष्टिकोण की कृतियों के अध्ययन द्वारा उन पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मत प्रकट करना ही आलोचना या समालोचना है।

समालोचना के उद्देश्य—आलोचक के एवं आलोचना के उद्देश्य और कर्त्तव्य की ओर संकेत करते हुय एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है—

'Nither praise nor dlame is object of true criticism Justly to discriminat, fir nclyto establish, wisely to Prescribe and honestly to award—these the trure ainc and duties of a ture critic.

इसी प्रकार एक भारतीय विद्वान का मत है—

'गुणादानपरः कश्चिद् दोषादानपरो परः।
गुण दोष हृति त्याग परकश्चन् भावकः।"

डा० 'भगीरथ' मिश्र ने कहा है—'आलोचना और आलोचक अपने आज के प्रचलित अर्थ में आधुनिक शब्द हैं। आलोक ही पहले भावक था जो मूल्यांकन कर सकता था, परन्तु उसका उद्देश्य दोष निकालना मात्र न था, दोषों को प्रकट कर के उनको दूर करने की प्रेरणा देना, गुणों का विकास करना भावाक का प्रमुख ध्येय था।"

उपयुक्त मतों का ध्यान रखकर यह कहा जा सकता है, कि आलोचना का उद्देश्य गुण-दोष विवेचमात्र ही नहीं है'वरन् आलोचना साहित्य का उद्देश्य यह है कि वह हमारे भीतर आलोचना के प्रति उत्सुकता की भावना को जाग्रत करे और उसकी मूल रूप में आस्वादन हेतु प्रेरित करे

शब्दों में पाठकों के हृदय में भावोद्रेक द्वारा सुन्दर साहित्य की ओर अभिरुचि उत्पन्न करना ही आलोचना का उद्देश्य है। इसके अतिरिक्त साहित्य के प्रणेताओं, कलाकारों के जीवन, उनकी कृतियों के गुण तथा प्रभाव और उसके सामाजिक प्रभाव से परिचित करना भी आलोचना का उद्देश्य है।

यदि कोई अच्छा कवि जीवन की व्याख्या करता है, तो एक अच्छा आलोचना हमें वह व्याख्या समझाने में सहायक होता है।" इस दृष्टि से कलाकार जिस प्रकार नाटक, कविता, उपन्यास आदि साहित्य के विविध अंगों में मानव जीवन की अभिव्यक्ति करता है, उसी प्रकार आलोचना के ये कार्य ही आलोचना के उद्देश्य माने जाते हैं। इसी तथ्य को 'गुलाबराय' जी ने भी व्यक्त किया है—

जिस प्रकार कवि संसारसे उत्पन्न अपनी भावात्मक और विचारात्मक प्रतिक्रिया को प्रकाश में लाता और अपने पाठकों को हृदय के रस में मग्न करने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार आलोचना कवि की कृति से जाग्रत अपनी-अपनी प्रतिक्रियाओं को चाहे उनका शास्त्रीय आधार हो और चाहे सूझ-बूझ गहरी पैठ और वैयक्तिक रुचि को प्रकाश में लाकर दूसरों को अपने भावों और विचारों से अवगत करा देना चाहता है। वह वास्तव में ग्रन्थकर्ता और प्रति पाठक के बीच दुभाषिया मध्यस्थ का काम करता उसका दोनों के प्रति उत्तरदायित्व रहना एक ओर वह कवि की कृति का सहृदय व्याख्याता और निर्णायक होता है और दूसरी ओर वह अपने पाठक का विश्वास-पात्र और प्रतिनिधि समझा जाताहै, कवि भांति वह द्रष्टा और स्रष्टा दोनों ही होता है।' अन्त में, डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में आलोचना के कार्य उद्देश्य को प्रस्तुत करना समीचीन प्रतीत होता है—

'आलोचना का कार्य कवि और उसकी कृति का यथार्थ मूल्य प्रकट करना है। इसके लिए कृति में व्यापक गुणों का उद्घाटन और दोषों का विवेचन तो उसका कार्य है ही उसका समाज में और अन्य कला कृतियों के बीच का स्थान और महत्व है' यह स्पष्ट करना भी आलोचना का ही कार्यहै। कलात्मक उत्कृष्टता का पूर्णप्रकाशन आलोचना के श्रेय का कार्य है इसके अतिरिक्त कवि प्रतिभा की विशेषताओं का पूर्ण उद्घाटन भी उसी

का कार्य है। कलाकृति के द्वारा कवि की मन: स्थिति पर प्रकाश डालना और वैयक्ति, पारिवारिक, सामाजिक और युग की परिस्थितियों के प्रभाव को स्पष्ट करना भी आलोचना के क्षेत्र के भीतर ही समझा जाता है अत: आलोचना के कार्य के दो प्रधान पक्ष हैं—एक तो कवि या कलाकार की कृति की पूर्ण व्याख्या का और दूसरे उसके महत्व एवं मूल्य निरूपण का'

निष्कर्ष—(१) समालोचक को साहित्य की व्याख्या के साथ उसमें सुन्दर तथा असुन्दर की विवेचना करनी होती है, अर्थात् साहित्य का कलात्मक दृष्टि से मूल्य निर्धारित करना होता है।

(२) आलोच्य साहित्य की समाज के लिए उपादेयता पर भी विचार करना समालोचक का विशेष कार्य होता है।

(३) समालोचना का अन्तिम उद्देश्य का ऐसा मानदण्ड के अनुसार साहित्य की विवेचन करता है, जिससे कि कुरुचिपूर्ण साहित्य की अभिवृद्धि रुक सके।

वस्तुत: आलोचना का क्षेत्र यहाँ तक विस्तृत माना जाता है कि व्यक्तिगत प्रभावों से लेकर तटस्थ रूप से सिद्धांतों का स्पष्टीकरण भी इसी की सीमा में आ जाता है। अंग्रेजी की यह उक्ति द्रष्टव्य है—

'-Liteay Critcirm in the mnst elastc meaning term is a literature diseussing itself it extends from the formal tretis to the floating critcism of everyday conversation on literay topics." —Multon

इस प्रकार स्पष्ट है कि आलोचक का कार्य या आलोचना का उद्देश्य कृति के सर्वांगीय विवेचन के साथ साहित्य के प्रणयन और सत्कृतियों के पठन की प्रेरणा देना भी है।

आलोचक के गुण—आलोचक के उद्देश्य और आलोचक के कार्य की ओर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि आलोचक साहित्य के प्रणयन और निर्माता दोनों ही। इस दृष्टि से, डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में—

'भावक या आलोचक का उत्तरदायित्व तिहरा है। एक कवि या लेखक के प्रति, दूसरे कृति के और तीसरे समाज के प्रति। कवि और लेखक का वह प्रेरक और मार्ग प्रदर्शक है, कृति के गुणों का विज्ञापन और दोषों का विवेचन और विश्लेषण करा कर उसका महत्व प्रकट करना

प्रमुख कार्य है और समाज को कृति और कवि के सम्बन्ध में वास्तविक ज्ञान करना, सत्कृतियों के पठन की प्रेरणा जाग्रत करना और उनके लेखकों के प्रति सम्मान भाव जगाना, उसका सर्वप्रथम उत्तरदायित्व है। इन तीनों ही प्रकार के उत्तरदायित्वों को निभाने के लिये आलोचक में कुछ गुणों का होना अत्यन्त आवश्यक है।

समालोचक के गुणों का विवेचन करते हुए एक पाश्चात्य विद्वान ने समालोचन में अधोलिखित आवश्यक गुण माने हैं—

(१) सुनिश्चितता, (२) स्वातंत्र्य, (३) सूझ, (४) श्रेष्ठ विचार (५) उत्साह, (६) हार्दिक अनुभूति, (७) गम्भीरता, (८) ज्ञान तथा (९) अथक परिश्रम।

डा० भगीरथ मिश्र ने आलोचक के गुणों की व्याख्या इस प्रकार की

१. सहृदयता—'सबसे पहले आलोचक के लिए आवश्यक गुण है—सहृदयता। निषेधात्मक और योगात्मक दोनों ही रूप में आवश्यक है। आलोचक में कृति और उसकी कृति के पूर्वाग्रह का अभाव होना चाहिए द्वेष ईर्ष्या आदि से उसे रहित होना चाहिए। इन निषेधात्मक विशेषताओं के साथ उसमें कृति में व्याप्त गुणों पर रीझने की शक्ति होनी चाहिए। कवि की अन्तरात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करने की संवेदना हृदय का अंग है। मुक्तहृदय में काव्य कृति में तन्मय होकर गुणों पर रीझता हुआ जो आलोचक अपनी आलोचना प्रस्तुत कर सके, वह सहृदय आलोचक है।

२. विस्तृत ज्ञान—आलोचक का दूसरा गुण है—विस्तृत ज्ञान। यदि आलोचक को आलोच्य विषय तथा लोक और शास्त्र का व्यापक एवं सूक्ष्मज्ञान न होगा, तो वह वर्ण्य विषय की बारीकियों को समझ ही न पायेगा, उसमें गुण दोष निकालना तो दूर की बात है। उसका इतिहास, दर्शन, काव्यशास्त्र, समाजशास्त्र, आदि का विस्तृत ज्ञान ही उसे आलोचना की भूमिका प्रदान कर सकता है। और कृति की विशेषताओं का विवेचन करने में सहायक हो सकता है। विस्तृत सूक्ष्म एवं गम्भीर ज्ञान से ही न पल्लवग्राही आलोचना न तो कवि और उसकी कृति के लिए महत्व की है और न समाज का ही कोई हित कर सकती है।

३. निष्पक्षता—'आलोचक का तीसरा गुण है—निष्पक्षता सहृदय।

साथ निष्पक्षता के मेल के बिना आलोचक किसी कृति की आलोचना में न्याय नहीं कर सकता। परिचितों और आत्मीयों की कृतियों में उसे गुण दिखाई देवे और अन्य की कृतियों में दोष अधिक और गुण कम इस प्रकार पक्षपात आलोचक का बहुत बड़ा दोष है। आलोचक को न्यायाधीश के समान क्षीर-नीर-होना चाहिए। आलोचक का यह गुण उसकी सूक्ष्म बुद्धि और चरित्र दोनों से सम्बन्ध रखता है।" आगे डॉ० मिश्र ने यह भी लिखा है कि—

'इसके अतिरिक्त आलोचक को, व्यक्तिगत कृतियों की आलोचना के साथ समय-समय पर सामूहिक रूप से साहित्य को प्रेरित करने वाले विचार प्रकट करने चाहिए। यह आलोचक के लिए आवश्यक, उदात्त, सामाजिक और कलात्मक दृष्टि से भी संवेदना रखने वाला गुण है। इस दृष्टि के साथ युग की बदलती चेतना होनी चाहिए, जिससे वह प्राचीन तथा नवीन कला कृतियों की युगानुकूल व्याख्या कर सके। उपर्युक्त सभी गुणों से सम्पन्न होकर ही आलोचक अपने त्रिमुखी उत्तरदायित्व को निभा सकता है।" यहाँ यह कहना असंगत न होगा कि डॉ० मिश्र के द्वारा स्पष्ट किये गये आलोचक के गुणों मे ही पाश्चात्य विद्वान द्वारा दिये गये आलोचक के सभी गुण समाहित हो जाते हैं। अत: अनावश्यक विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न ५४—समालोचना कितने प्रकार की होती है? उससे प्रमुख प्रकारों का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।

आलोचना का कार्य बहुत व्यापक है। साहित्य के विविध अंगों सूक्ष्म विवेचन और उनके मूल्य निर्धारण के अतिरिक्त उसके मूल में कार्य कर रही अनेक सूक्ष्म प्रवृत्तियों का विश्लेषण भी आलोचना का ही कार्य है। अस्तु, इसके व्यापक कार्य को समेटने के लिए विभिन्न पद्धतियाँ व्यवहृत हुई हैं। यहाँ उनके प्रमुख रूपों का विश्लेषण किया जा रहा है, जो निम्नांकित है—

(१) आत्मप्रधान या प्रभावात्मक आलोचना (Subjective Criticism)
(२) सैद्धांतिक आलोचना Speculative Criticism)
(३) व्याख्यात्मक आलोचना (Indictive Criticism)
(४) निर्णयात्मक आलोचना (Judicial Criticism)
(५) तुलनात्मक आलोचना (Comparative Criticism)
(६) मनोवैज्ञानिक आलोचना (Psychological Criticism)

१. आत्म-प्रधान या प्रभावात्मक आलोचना—भावपूर्ण एवं स्वच्छन्द होती है। इसमें आलोचक किसी भी सिद्धान्त या नियम में बँधकर चलना नहीं चाहता। कृति के अध्ययन के बाद उस पर जो प्रभाव पड़ा होता है, उसका वह ओजपूर्वक विश्लेषण करता है। दूसरे शब्दों में इस आलोचना में आलोचक का हृदयोल्लास व्यक्त होता है और आलोचक स्वतंत्रतापूर्वक अपनी रुचि एवं आदर्शों के अनुरूप ही आलोचना करता एवं निर्णय देने का प्रयास करता है।

डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में, 'आलोचना का यह रूप वैयक्तिक होता है, अतः कृति के मूल्य-निर्धारणों और पाठकों के मार्ग-निर्देशन एवं ज्ञान सम्वर्द्धन में इसका अधिक योग नहीं रहता। इसमें आलोचना से अधिक रचनात्मक विशेषताएं रहती हैं। इसमें कल्पना और भाव तत्व प्रधानतया कार्य करता है, विचार-तत्व कम। इसे हम एक प्रकार का भावात्मक साहित्यक निबन्ध कह सकते हैं··· ··यह आलोचना स्वछंद होने से रुचिकर अधिक होती हैं कभी-कभी इसमें वागाडम्बर मात्र होता है।'

इस आलोचना की शैली भावपूर्ण होती है। हिंदी साहित्य के भारतेन्दु एवं द्विवेदी युगों में इस शैली की आलोचनाएं पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हैं। पं० पद्मसिंह शर्मा द्वारा 'बिहारी' की आलोचना ऐसी ही है। यद्यपि कुछ लोग इस शैली की आलोचना को उपादेय नहीं मानते क्योंकि इससे आलोच्य कृति या विषय का पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता, तथापि आज के युग में साहित्य में व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की भावनाओं के प्रचार-प्रसार के फल स्वरूप आत्मा-प्रधान आलोचना को पर्याप्त प्रमुखता प्राप्त हो रही है।

२. सैद्धांतिक आलोचना—के संबंध में पाश्चात्य विद्वान 'Moulton' का कथन है—

Speculative Criticism works towards a theory and philosophy of literature...............In speculative criticism formal literay theory relaxes into tentative advance tow ards an undertime philosophy of literature.

इसका तात्पर्य यह हुआ कि सैद्धांतिक के भीतर आलोचक व्यक्ति रूप से श्रेष्ठ कृतियों का अध्ययन करते हुए व्यापक सिद्धांतों की खोज करता है। अत: कृतियों के अध्ययन एवं उनकी व्याख्या द्वारा इस प्रकार के सिद्धांतों को खोजना और उनका संकेत करना सैद्धांतिक आलोचना है। इस आलोचना के अन्तर्गत काव्यशास्त्र और सैद्धांतिक आलोचना है। इस आलोचना के अन्तर्गत काव्यशास्त्र और सिद्धांत ग्रंथ रखे जाते हैं। इसका सम्बन्ध काव्यशास्त्र से माना जाता है।

इस संबंध में डा० भगीरथ मिश्र का कहना है कि '......परन्तु यदि सिद्धांत निरूपण ही किसी पुस्तक में हुआ है, तो उसे काव्य परन्तु यदि सिद्धांत के भीतर स्थान मिलना चाहिए आलोचना के भीतर नहीं, आलोचना में भीतर तो किसी कृति के अध्ययन करते समय सामान्य या व्यापक काव्य-सिद्धांत की नवीन खोज या पूर्ववर्ती सिद्धांत का विवेचन का विकास हो सकता है, पर पूरा-काव्य सिद्धांत-निरूपण नहीं जो कि विवेचन के आधार बनाता है जिसका संबंध शास्त्र या दर्शन से अधिक है-आलोचना से नहीं। अत: दोनों में अन्तर है। इस आलोचक के द्वारा व्यापक सैद्धांतिक विकास संभव होता है।' वास्तव में, डा० मिश्र का यह कथन सर्वथा मान्य है।

३. शास्त्रीय या निर्णयात्मक आलोचना—वास्तव में, सैद्धान्तिक आलोचना का विलोम है! सैद्धांतिक आलोचना में आलोचना-शास्त्र के सिद्धांत निश्चित किये जाते हैं और निर्णयात्मक आलोचना के भीतर उन सिद्धांतों का व्यवहार होता है। इसके अंतर्गत काव्य, कला अथवा अन्य शास्त्रीय सिद्धांतों के आधार पर किसी कृति अथवा रचना की आलोचना की जाती है। सिद्धांतों की कसौटी पर कठोरता से किसी भी रचना को

करना ही इसका उद्देश्य है प्रचलित सिद्धांतों-जैसे अलंकार, रस ध्वनि अभिव्यंजनावाद या समाजशास्त्रीय सिद्धांतों के आधार पर इस प्रकार की आलोचना आधुनिक युग से पहले पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है।

४. व्याख्यात्मक आलोचना—में सिद्धांतों की कठोरता को ही स्वीकार करते हैं। इसका प्रमुख ध्येय कृतियों के कवि के दृष्टिकोण से व्याख्या करना है। इस प्रकार के आलोचना के आलोचक सिद्धांतो और आदर्शों की ओर अधिक ध्यान न देकर कवि की अन्तर आत्मा में प्रवेश करके उनके आदर्श दृष्टिकोण तथा प्रवृत्तियों को समझता है। आधुनिक युग में कवि की प्रवृत्तियों का अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। आचार्य पं. रामचंद्र शुक्ल की 'तुलसी' सूर 'जायसी' संबंधी आलोचनाएं इसी कोटि की हैं।

'Moulton' के आधार पर डा० भगीरथ मिश्र ने यह स्पष्ट किया है कि—

व्याख्यात्मक आलोचना यह भी स्वीकार करती है कि सभी कवि या साहित्यकार एक श्रेणी प्रवृत्ति में नहीं होते। अतएव किसी एक सिद्धांत या नियम से उनकी नापना असंगत है और इस बात में यह निर्णयात्मक आलोचना से भिन्न है। इसके अन्तर्गत आलोचक साहित्य को प्रकृति के अन्य पदार्थों की भांति विकासशील मानकर नूतन विकास तथा उसके कारणों को खोजने का प्रयास करता है। साहित्य को निर्जीव मानकर पूर्व प्रतिष्ठित निर्जीव सिद्धांतों द्वारा ही उनकी परीक्षा नहीं की जाती। साथ ही साथ इसमें व्यक्तिगत या आत्म प्रधान आलोचना का भी रूप नहीं रहता, क्योंकि इसमें आलोचक यह नहीं कहता कि रचना मुझे कैसी लगी वरन् वह व्यक्तिगत अभिरुचि का परित्याग करके तटस्थ रूप से यह स्पष्ट करता रहता है कि कवि या साहित्यकार ने इसमें क्या अभिव्यक्त किया है। वह उस कृति के निरीक्षण में सदैव एक वैज्ञानिक अन्वेषण की भांति नवीन सिद्धान्त, नियम या विशेषताएं खोजने में सजग रहता है। इस प्रकार व्याख्यात्मक आलोचना में साहित्यकार के साथ पूर्ण न्याय होने के साथ सजीवता और रोचकता बनी रहती है और नवीन नियमों एवं

सिद्धांतों को विकास प्रदान करने वाले तथ्यों की खोज भी होती रहती है, इसीलिए इस आलोचना-पद्धति को अधिक महत्व दिया जाता है। यह आलोचना सैद्धांतिक आलोचना का आधार बनती है।'

५. तुलनात्मक आलोचना—दो या अधिक विभिन्न कलाकृतियों, जो विभिन्न कलाकारों द्वारा समान विषय पर लिखी गयी हों, की तुलना से सम्बन्ध रखती है। आलोचक अपने विषय के प्रतिपादन के लिए आलोच्य रचनाओं का अध्ययन करके उनके विविध अंगों पर प्रकाश डालता है। निश्चय ही इस प्रकार की आलोचना में मूल्यनिर्धारण की ओर आलोचक का झुकाव होता है। डा० भगीरथ मिश्र कहते हैं—'इसके अन्तर्गत अपनी रुचि के अनुसार किसी कवि के प्रति अन्याय भी किया जा सकता है। यह पद्धति उन स्थलों पर उपयोगी होती है, जहाँ हमें तुलनात्मक दृष्टि से किसी को छोटा बड़ा सिद्ध नहीं करना होता, वरन् एक ही प्रकार की विशेषताओं, नियमों और सिद्धांतों के प्रभाव को स्पष्ट करना होता है। इस तथ्य का ध्यान न रखने पर तो इस आलोचना का परिणाम कटु विवाद होता है। हिंदी में 'बिहारी' और 'देव' की आलोचना और उस सम्बन्ध में उत्पन्न विवादास्पद स्थिति इसका ज्वलन्त उदाहरण है। शांति प्रिय द्विवेदी और 'रानी गुटू' के कुछ लेख इस आलोचना के भीतर आते।'

६. मनोवैज्ञानिक आलोचना—भी बहुत हद तक व्याख्यात्मक ही होती है। इस आलोचना का प्रधान कार्य है—कवि और कलाकार के अंतस का अध्ययन। इसी आधार इसमें कार्य या कलाकृति के मूलस्थिति भावों और प्रेरणाओं का प्रमुख होता है बाह्य परिस्थितियों से आंतरिक भावनाओं या मानसिक स्थिति पर होने वाली प्रतिक्रियाओं का विशेष अध्ययन ही इसका उद्देश्य है। डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में 'कवि की रचनाओं का वैयक्तिक स्वभाव, उसकी आर्थिक, पारिवारिक और सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न उसकी प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप मनःस्थिति आदि के प्रकाश में देखना और निष्कर्ष निकालना भी इस कोटि की आलोचना

का उद्देश्य रहता है···व्याख्यात्मक में प्रधानतया कृतित्व का विश्लेषण रहता है और इसमें कवि की रुचि, परिस्थिति और अन्तर्वृत्तियों का।'

(द्रष्टव्य—वस्तुतः आलोचना के उपर्युक्त प्रकार ही प्रमुख हैं। अन्य प्रकारों—ऐतिहासिक तथा समाजवादी अथवा प्रगतिवादी आलोचना के विषय में यहाँ कुछ नहीं कहा गया है। यदि आवश्यक हो तो पाठकगण अन्यत्र देखने का कष्ट करें।]

प्रश्न ५५—'शैली की परिभाषा दीजिये और उसके अनुसार शब्दों का महत्त्व तथा वाक्यों का विशेषता पर अपने विचार कीजिए।

-काव्य या साहित्य के तत्वों की विवेचना में विशेषकर पाश्चात्य विद्वानों ने रचना-तत्व या शैली तत्त्व (Element of style) का पर्याप्त उल्लेख किया है। यद्यपि हमारे आचार्यों ने इस तत्व की पृथक् मान्यता तो नहीं दी है, तथापि इस तत्व के विविध उपकरणों का विवेचन काव्य के कला-पक्ष के भीतर अवश्य किया है। काव्य या साहित्य के कला पक्ष का विवेचन कहलाता है।

मनुष्य में आत्माभिव्यक्ति की इच्छा प्रधान होती है उसी के परिणाम स्वरूप साहित्य की सृष्टि होती है। इस सृजन मे सौन्दर्य-प्रियता की भावना भी होती है। शैली के मूल मानव की सौदर्य प्रियता की यह प्रवृत्ति या भावना ही कार्य करती है। इसी को काव्य के अनुभूतिपक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष अथवा भाव-पक्ष या कला-पक्ष में अभिव्यक्ति-पक्ष के अन्तर्गत विवेचित किया जाता है।

गुलाबराय जी के शब्दों, 'शैली-तत्व का सम्बन्ध अभिव्यक्त से है। इसमें मानसिक पक्ष (अनुभूति-पक्ष) रहता अवश्य है, किन्तु इसमें बल कलात्मक बाह्य पक्ष पर ही है।' एक अन्य स्थल पर, कविता के प्रकरण में, वे लिखते हैं, 'कविता के लिए सभी तत्व आवश्यक हैं। उसके लिए अनुभूति और अभिव्यक्ति का प्राय: समान महत्व है, फिर भी अभिव्यक्ति का महत्व अनुभूति पर निर्भर रहता है। अनुभूति के बिना कविता निस्सार

और अभिव्यक्ति के बिना वह आकर्षणहीन हो जाती है।' कहना न होगा कि यह तथ्य कविता पर ही नहीं, वरन् काव्य या साहित्य की अन्य सभी विधाओं पर लागू होता है।

इसी प्रसंग में बाबू श्यामसुन्दर दास का कथन भी बहुत उपयुक्त प्रतीत होता है, वे लिखते है······सब प्रकार के काव्य की आत्मा रस है। बिना आत्मा के शरीर निर्जीव होकर त्याज्य हो जाता है। पर आत्मा के रहते भी शरीर के बाह्य सौंदर्य को बढ़ाने और आकर्षक बनाने की आवश्यकता रहती। इसी का तात्पर्य काव्य के भाव पक्ष और कला पक्ष से है।······कवि या लेखक की सामग्री कैसी ही उत्तम क्यों न हो और उसके भाव विचार तथा कल्पनाएं चाहे कितनी ही परिपक्व और अद्भुत क्यों न हो जब तक उसकी कृति में रूप—सौंदर्य नहीं आयेगा, जब तक वह अपनी सामग्री के सिद्धांतों के अनुकूल हो, तब उसकी कृति काव्य न कहला सकेगी इसलिए कुछ विद्वानों का मत है कि बुद्धितत्व कल्पना तत्व और भाव-तत्व के अतिरिक्त एक चौथा तत्व भी है जिसे शैली या रूप चमत्कार कह सकते हैं।

महाकवि कालिदास के रघुवं' की प्रारम्भिक बन्दना' वागार्थाविव···, में 'वाक् और अर्थ से वही प्रयोजन है, कलापक्ष तथा भाव पक्ष अथवा भाव और शैली से है। इसीलिए रचना-चमत्कार को शैली का नाम दिया गया।'

अंत में बाबू श्यामसुंदर दास ने शैली की परिभाषायें दी हैं—'किसी कवि या लेखक की शब्द योजना वाक्यांशों का प्रयोग वाक्यों की बनावट और उनकी ध्वनि आदि का नाम शैली है।'

Pope (पोप) के अनुसार, 'शैली विचारों की वेशभूषा (the drese of thought) है' किन्तु यह कथन उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि परिधान को शरीर से अलग कर सकते हैं। उसका निज का अस्तित्व है—व्यक्ति के शरीर से उसकी भिन्न स्थिति है। जिस प्रकार मनुष्य से उसके विचार अलग नहीं हो सकते उसी प्रकार उन विचारों से अलग नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, साहित्य की आत्मा भाव या रस जिसे वस्तु

(Matter) भी कहते हैं अपने अभिव्यक्ति के प्रकार (Manner) से पृथक् नहीं हो सकती। भाव यदि आत्मा है तो शैली उसका शरीर; जिससे आत्मा को पृथक नहीं किया जा सकता। उसके ही पार्थक्य का अर्थ है— शरीर का मृत होना और आत्मा का अदृश्य हो जाना अत: आत्मा और शरीर की भाँति साहित्य में भी वस्तु और शैली का अटूट संबंध है। इसी दृष्टि से बाबू श्यामसुन्दर दास का कहना है कि—

शैली को विचारों का परिधान न कहकर उनका बाह्य और प्रत्यक्ष रूप कहना बहुत कुछ संगत होगा। अथवा उसे भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग कहना भी ठीक होगा।

शैली की सबसे अधिक वैज्ञानिक, व्यापक और उपयुक्त परिभाषा डा० भगीरथ मिश्र ने दी है—

शैली या रीतिहित, काव्य रचना संबंधी यह विशेषता है, जो कवि की प्रकृति और व्यक्तित्व, वर्ण योजना शब्द संगठन, अलंकार-प्रयोग, भाव सम्पत्ति एवं उक्तिवैचित्र्य के परिणाम स्वरूप प्रकाशित होती है।

शैली के स्वरूप और परिभाषा के विवेचन के बाद यह ध्यान रखना आवश्यक है कि शैली मुख्य रूप से एक वैयक्तिक प्रयोग है, जैसा कि उपयुक्त विवेचन में स्पष्ट है कि एक सच्चा कलाकार परम्परागत विचारों और जीवन दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तों को अपनी विशिष्ट शैली द्वारा नवीन अभूतपूर्व बना देता है। प्रत्येक कलाकार अपनी भाषा के गठन में वाक्यों की बनावट, शब्दों की योजना पद विन्यास और अलंकार सामग्री का प्रयोग-उपयोग अपनी वैयक्ति रुचि एवं स्वभाव के अनुसार ही करता है। यही कारण है कि कलाकार-विशेष की कृत का परिचय उसकी शैली विशेष से मिल जाता है। दूसरे शब्दों में, शैली द्वारा हमें पता चल जाता है कि यह कृति या रचना अमुक कलाकार की है। इसी लिए एक विद्वानने कहा—महान् कवियों और लेखकों

की शैली में कभी समानता नहीं हो सकती। अतः प्रत्येक कवि या लेखक की शैली उसकी वैयक्तिक रुचि एवं प्रवृत्ति की परिचायिका होती है और उसके द्वारा उसकी मनोवैज्ञानिक समीक्षा भी की जा सकती है।

किन्तु शैली वैयक्तिक विशेषताएं सामान्यतया उच्चकोटि के कलाकारों में ही प्राप्त होती हैं, साधारण कलाकारों में कम। विभिन्न कलाकारों की शैलियों में भिन्नता होते हुए भी उनमें बहुत कुछ समानताएं भी होती हैं। इन समान विशेषताओं के आधार पर ही पाश्चात्य और भारतीय आचार्यों ने शैली विवेचना की है। बस्तु: श्यामसुन्दर दास के शब्दों में, शैली की विशेषता इसी बात में होती है कि·········हम अपनी भाषा को, अपने भावों विचारों और कल्पनाओं को अधिकाधिक प्रभावशाली बना सकें।' अतः यह देखना होगा कि यह प्रभाव किस प्रकार उत्पन्न होता है? प्रभाव उत्पन्न करने वाले विविध तत्वों को—भाषा के विभिन्न अंगों को—शैली के उपकरण कहते हैं।

(इन उपकरणों में यहाँ हम 'शब्दों का महत्व' और वाक्यों की विशेषताओं' के सम्बन्ध में विचार करेंगे। शेष उपकरणों का उल्लेख आगामी प्रश्नों में होगा।)

शब्दों का महत्व—शैली के उपकरणों में शब्दों का अत्यधिक महत्व है। शब्द ही भाषा के मूल आधार हैं। बाबू श्यामसुन्दर दास जी ने लिखा है—'भाषा ऐसे सार्थक शब्द समूहों का नाम है, जो एक विशेष क्रम से व्यवस्थित होकर हमारे मन की बात दूसरे के मन में पहुंचाने और उसके द्वारा उसे प्रभावित करने में समर्थ होते हैं। अतएव शब्द भाषा के मूल आधार हैं, जिन्हें उपयुक्त रीति से प्रयुक्त करने के कौशल को ही शैली का मूल तत्व समझना चाहिए।"

स्पष्ट है कि शब्दों की व्यवस्था, उनके क्रम उनके चयन और उपयुक्त प्रयोग से ही कलाकार की शैली या शिल्प विधान में प्रभावोत्पादकता आती है। उत्तम काव्य या साहित्य की रचना के आधार शब्द ही हैं। अतः शब्दों के व्यवहार में कलाकार को कुशल होना चाहिए। साथ ही उनका शब्द भण्डार बहुत विस्तृत होना चाहिए। इसके लिए उसकी

स्मरण शक्ति भी बहुत पुष्ट होनी चाहिए। ताकि समयानुसार आवश्यक तथा उपयुक्त शब्दों के व्यवहार करने में उसे सरलता और सुविधा हो।

कवि या लेखक के लिए शब्द-भण्डार की महत्ता इतनी अधिक है कि यूरोपीय लेखकों ने महान कवियों एवं लेखकों के द्वारा प्रयोग किये गये शब्दों की गणना तक कर ली है और उसके आधार पर वे उसके पांडित्य की थाह लेते हैं। हमारे यहाँ भी इस की ओर ध्यान जा रहा है। शब्दों की गणना तो अभी नहीं हो रही है, फिर भी कवि या लेखक विशेष की भाषा का अध्ययन करने का प्रयास किया जा चुका है। जैसे, सूर की भाषा, तुलसी की भाषा, आदि शोध-प्रबंधों में कवि द्वारा शब्दों के प्रयोग की कुशलता एवं सामर्थ्य का विवेचन उपलब्ध। इससे यह बात सिद्ध होती है कि प्रौढ़ या सिद्ध कलाकार शब्द-भण्डार की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि उनके उपयुक्त प्रयोग में सर्वथा कुशल और समर्थ होता है। इसी लिए उसकी कृति में भाषा, भावों और विचारों की अनुगामिनी होती है। उसमें कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक भावों और विचारों को अभिव्यक्त करने की कुशलता और शक्ति होती है। जो कलाकार आरंभिक अवस्था में होता है—ठीक इसके विपरीत स्थिति होती है और मध्यावस्था में लगभग सामंजस्य होता है।

इसी तथ्य को श्यामसुन्दरदास जी ने इस तरह प्रकट किया है—'इस लिए केवल प्रयुक्त शब्दों की संख्या से ही किसी के पांडित्य की थाह लेना अनुचित और असंगत होगा। उन शब्दों के प्रयोग के ढंग पर विचार करना भी नितान्त आवश्यक है; अर्थात् हमें इस बात का भी विवेचन करना चाहिए कि किसी वाक्य में शब्द किस प्रकार सजाये गये हैं और उनको वाक्य रूपी माला में चुनकर गूँथने में कैसा कौशल दिखाया गया है।-

शब्द-तत्व का विवेचन करते हुए डा. भगीरथ मिश्र ने लिखा है—'अर्थ के द्योतन के अतिरिक्त काव्य में विशेष रूप से कविता में शब्द-तत्व की विशेषता विद्यमान देखने को मिलती है अलंकारों का शब्दगत चमत्कार विविध वृत्तियाँ परुषा, कोमला उपनागरिकया का नियोजन, शब्द-चयन से उत्पन्न पद की एक विशेषता गति और प्रवाह, संगीतमयता आदि शब्द-तत्व के विविध रूप हैं।' इससे शब्दों का महत्व स्पष्ट ही जाना जा सकता है।

हमारे यहाँ शब्दों में गुण वृत्ति और शक्ति—ये तीन बातें मानी गयी हैं। हमारे आचार्यों ने शब्द-शक्तियों और गुणों तथा वृत्तियों पर विस्तृत एवं सूक्ष्म विचार किया है। इनसे भी शब्दों का महत्व स्पष्ट होता है, किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि शब्दों की सामर्थ्य उनमें स्वयं में नहीं होती। सार्थक शब्द भी जब वाक्य में उचित ढंग से प्रयुक्त नहीं होते, तब तक न तो उनकी सामर्थ्य का प्रादुर्भाव होता है और न उनके गुण ही ज्ञात होते हैं। फलत: उनके कोई प्रभाव नहीं उत्पन्न हो पाता, बाबू श्यामसुन्दर दास का कथन है, उनमें (शब्दों में) शक्ति या गुण आदि के अन्तर्हित रहते हुए भी उनमें विशेषता, महत्व, सामर्थ्य या प्रभाव का प्रादुर्भाव केवल वाक्यों में सुचारु रूप से उनके सजाये जाने पर ही होता है।

वाक्यों की विशेषताएँ—रचना शैली के अन्तर्गत वाक्य का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है, वाक्यों कि इन्हीं पर निर्भर रहकर पूरा-पूरा कौशल दिखाया जा सकता है। इसी में उनकी विशेषता का अनुभव हो सकता है, अस्तु। इस सम्बंध में कुछ बातें विशेष रूप ध्यान देने योग्य हैं—

१. वाक्यों में शब्दों का उपयुक्त प्रयोग होना चाहिए। बाबू श्याम-सुन्दर दास लिखते हैं कि 'जिस भाव विचार को हम प्रकट करना चाहते हैं ठीक उसी को प्रत्यक्ष करने वाले शब्दों का हमें प्रयोग करना चाहिए। बिना सोचें समझें शब्दों का अनुपयुक्त प्रयोग वाक्यों की सुन्दरता नष्ट करता और लेखक के शब्द भण्डार की अपूर्णता अथवा उसकी असावधानी प्रकट करता है अतएव वाक्यों में प्रयोग करने के लिए शब्दों का चुनाव बड़े ध्यान और विवेचन से करना चाहिए।'

२. वाक्यों की रचना पर विशेष ध्यान देना चाहिए। यहाँ व्याकरण की दृष्टि से नहीं बल्कि इस दृष्टि से विचार करना है कि वाक्य की रचना और प्रयोग द्वारा अधिकाधिक और वाँछित प्रभाव उत्पन्न हो सके इसके लिए बाबू श्यामसुन्दर दास जी ने तलाया है कि इस प्रयोजन के लिए सबसे अधिक वाक्य वह होता है, जिसे हम वाक्तमन्वय कह सकते हैं और जिसमें तब तक अर्थ स्पष्ट नहीं होता, जब तक वह वाक्य समाप्त नहीं

हो जाता ।…………ऐसे वाक्य पढ़ने वाले के ध्यान को आकर्षित करके उसे मुग्ध करने उसकी जिज्ञासा को तीव्रता देने तथा आवश्यक प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं।

(३) वाक्य रचना में शब्दों के संगठन तथा भाषा की प्रौढ़ता पर भी विशेष ध्यान देना अपेक्षित है, क्योंकि वाक्य में इन दोनों गुणों की विद्यमानता आवश्यक है बाबू श्यामसुन्दर के शब्दों में, 'यदि किसी वाक्य में संघटन का अभाव हो यदि एक वाक्यांश कहकर उसे समझाने या स्पष्ट करने के लिए ऐसे छोटेछोटे शब्द-समूहों का प्रयोग किया जाय जो अधिकतर विशेषणात्मक होंतो छोटे-छोटे वाक्यांशों की भूलभुलइया में मुख्य भाव प्राय: लुप्त सा हो जायगा और वह वाक्य अपनी जटिलता के कारण पढ़ने को निरुत्साहित कर उसकी जिज्ञासा मन्द कर देगा तथा किसी प्रकार का प्रभाव न उत्पन्न कर सकेगा। अतएव ऐसे वाक्यों के प्रयोग से बचना चाहिए।'

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वाक्योच्चय (आरम्भिक वाक्य) बहुत बड़े तथा लम्बे न हों नहीं तो संगठनात्मक गुण नष्ट हो जाते हैं और वे मनोरंजक होने के बजाय अरुचिकर हो जाते हैं यद्यपि वाक्यों की लम्बाई या विस्तार की कोई सीमा निश्चित नहीं हो सकती तथापि यह लेखक की कुशलता सौंदर्य बुद्धि और अभ्यास आदि पर निर्भर है। वस्तुत: विषय के अनुकूल ही यह सीमा होनी चाहिए। जटिल या दुर्बोध विषय के लिए छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग ही सर्वथा उचित है। सरल-सुबोध विषय के लिये अपेक्षाकृत कुछ लम्बे वाक्य होने से कोई हानि नहीं। जानबूझकर थोड़े पाण्डित्य के प्रदर्शन के लिये वाक्यों को विस्तृत तथा जटिल बनाने और आवश्यक वाक्यों के भाषा को बोझिल बनाने की प्रवृत्ति हेय और हानिप्रद है। इनमें एक तो पाठक ऊब जाता है और दूसरे प्राय: लेखक भी यह भूल जाता है कि किस मुख्य भाव या विचार को व्यक्त करने के उद्देश्य उसने वह वाक्य प्रारम्भ किया था। फल यह होता है कि वह ऐसे वाक्यों, की समाप्ति पर मुख्य भाव भूल जाता है और गौण भाव को लेकर आगे बढ़ चलता है, जिससे उसके वाक्यों का पारस्परिक सम्बन्ध ठीक से स्थापित नहीं हो पाता और भाषा-शैली में

चुस्ती और प्रौढ़ता के बजाय शिथिलता तथा दुर्बलता आ जाती है। अतः इन दोनों से बचने की ओर ध्यान देना आवश्यक और लाभप्रद है।

४. समीकृत वाक्यों का प्रभाव और प्रयोग—बाबू श्याम सुन्दरदास जी ने बताया है कि 'जब किसी वाक्य का वाक्यांश एक के रूप और आकार होते हैं तब उन्हें 'समीकृत वाक्य' कहते हैं। इन समीकृत वाक्यों की समरूपता या तो व्याकरण के अनुसार उनकी बनावट से होती अथवा शब्दों के उच्चारण या अवधारण पर निर्भर रहती है। इन वाक्यांशों का अर्थ भिन्न होता है और शब्द भी प्रायः भिन्न होते हैं।'

इस बात को समझने के लिये उन्हीं के द्वारा प्रस्तुत निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है—

'चाहे हमारी निन्दा हो, चाहे स्तुति, चाहे हमारी आज ही मृत्यु हो, चाहे हम अभी बरसों जियें, चाहे हमें लक्ष्मी स्वीकार करें, चाहे हमारा सारा जीवन दरिद्रमय हो जाय, परन्तु जो व्रत हमने धारणा किया है, उससे कभी हम विचिलत नहीं होंगे।'

यहाँ यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि ऐसे वाक्यों के प्रभाव दो प्रकार से पड़ता है-एक तो जब वाक्यों की शृंखला किसी एक ही प्रणाली पर बनायी जाती है, तब वह हमारी स्मरण-शक्ति को सहायता पहुंचती है और एक से वाक्यांशों की आवृत्ति मन को प्रभावित करती है; और जब हम जान लेते हैं कि भिन्न-भिन्न वाक्यांशों में किस बात में समानता है तब हमे केवल उनकी भिन्नता का ही ध्यान रखना आवश्यक होता है।

इनका दूसरे प्रकार का प्रभाव, विस्मय और आनन्द उत्पन्न करने मे सहायक होता है। श्याम सुन्दर दास जी ने लिखा है—समरूप वाक्यों के द्वारा भिन्न भाव करने के मन को आनन्द प्राप्त होता है और कुछ संगीत के लय सुर का सा अनुभव होने लगता है। जब एक वाक्यांश द्वारा भिन्न परन्तु साथ ही नवीन भाव का उद्बोधन कराया जाता है तब हमारे आनन्द और विस्मय की मात्रा बढ़ जाती है।' जैसे यह कठिन तो है पर असंभव नहीं में कठिन और असंभव के संयोग से वाक्यांश मे एक ही प्रकार

की विशेषता आ जाती है जो हमारे आनन्द और विस्मय का कारण होती है इसी प्रकार केवल दो शब्दों को वाक्यांशों में भिन्न-भिन्न स्थान देने से-जैसे—उसका कहना तो अविश्वासनीय तो है पर असत्य नहीं—वाक्य की सुंदरता आनन्ददायिकता और विस्मयकारिता में और वृद्धि हो जाती है।

५. अन्त में वाक्य की रचना मे सर्वाधिक ध्यान रखने की बात है—आवरण का संस्थान; अर्थात् यह ध्यान रखना कि वाक्य की किस बात पर हम अधिक जोर देना चाहते हैं और उनका प्रयोग किस प्रकार होना चाहिए इस संबंध में नियम यह है कि जिस बात पर जोर देना हो वह वाक्य के प्रारम्भ में या अन्त में रखी जाय। प्रारम्भ में रहने से उस पाठक का ध्यान आकर्षित होता है और अन्त में रहने से उसे स्मृति में अधिक काल तक रखा जा सकता है। वाक्य के मध्य में साधारण और अप्रधान बातें रखी जानी चाहिए। स्मरण यह है कि उक्त नियम का पालन प्रस्तावना या उपसंहार के वाक्यों में नहीं होनी चाहिए। श्यामसुन्दर दास जी का मत है कि 'अवधारण को आदि या अन्त में स्थान देने से वाक्य में स्पष्टता आ जाती है और वह लालित्य गुण से सम्पन्न हो जाता है।

प्रश्न ५६—शब्दशक्ति के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए उसके प्रमुख भेदों—अभिधा लक्षण तथा व्यंजना—का संक्षिप्त परिचय दीजिये।

प्रश्न ५७—शैली में गुण वृत्ति और रीति के महत्व को स्पष्ट करते हुए उनका संक्षेप में परिचय दीजिए।

शैली का संबंध प्रधान रूप भाषा से है और भाषा के मूल आधार शब्द हैं। शब्दों का समुचित और युक्ति संगत प्रयोग ही शैली की मुख्य विशेषता है। यही कारण है कि भारतीय आचार्यों ने शब्दशक्तियों के विवेचन द्वारा शब्दों के समुचित प्रयोग पर विशेष ध्यान दिया है। डा. भगीरथ मिश्र के शब्दों में—शब्द का अर्थ बोध करने वाली शक्ति ही शब्द शक्ति है यह एक प्रकार का शब्द और अर्थ का संबंध है।'

बाबू श्यामसुन्दर दास जी ने भी यही कहा है कि वास्तव में ये शब्द-शक्तियाँ नहीं किन्तु एक प्रकार से उनके अर्थों के भेद हैं। इस कारण इनका महत्व वाक्यों में ही देख पड़ता है। जब तक शब्द स्वतंत्र रहते हैं

अर्थात् किसी वाक्य या वाक्यांश के अंग नहीं बन जाते, तब तक उनका कोई निश्चित या सर्वसंमत अर्थ ही लिया जाता है, परन्तु वाक्यों में पिरोये जाने पर उनका अर्थ अवस्थानुकूल वाच्य (वाच्य), लक्ष्य या व्यंग्य हो जाता है।

शब्द-शक्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं—१. अभिधा, २. लक्षण और ३. व्यंजना।

अभिधा—शक्ति से शब्द के साधारण अर्थ का बोध होता है। श्याम सुन्दरदास जी के शब्दों में—'शब्द को सुनते ही यदि उसके कार्य का बोध हो जाय, तो उसकी अभिधा शक्ति का कार्य हुआ।' इसी को वे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'पर शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं, इसलिए जिस शक्ति के कारण कोई शब्द किसी एक ही अर्थ को सूचित करता है, उसे अभिधा शक्ति कहते हैं। उन्हीं के शब्दों में इसका निर्णय कि कहाँ किस शब्द का क्या अर्थ है, संयोग, वियोग साहचर्य. विरोध. अर्थ प्रकरण प्रसंग चिन्ह सामर्थ्य औचित्य बल देशकाल भेद और स्वर भेद से किया जाता है।

इसके पूर्व ही उन्होंने बताया है कि जिन शब्दों का एक ही अर्थ होता है. उसके सम्बन्ध में ही केवल लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का उपयोग देख पड़ता है' पर जहाँ एक ही शब्द के कई अर्थ होते हैं, वहाँ अभिधा शक्ति द्वारा अभिप्रेत अर्थ को ग्रहण किया जाता है।'

स्पष्ट है कि अभिधा-शक्ति से शब्द के एक ही या मुख्य अर्थ अभि-प्रेत होता है, ग्रहण किया जाता है। जैसे भोजन के प्रसंग में सैन्धव का अर्थ 'नमक' होगा न कि 'घोड़ा'।

१. लक्षण—शक्ति में शब्द के अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है सुनते ही उसका उचित अर्थ नहीं ज्ञात हो पाता। यह कल्पना वाक्य में शब्द के उपयुक्त अर्थ की संगति बैठाने के लिए करनी पड़ती है। श्यामसुन्दर दास जी ने यों स्पष्ट किया है।—जहाँ शब्द के मुख्य या प्रधान अर्थ को छोड़कर किसी दूसरे अर्थ की कल्पना इसलिए करनी पड़ती कि वाक्य में उसकी संगति बैठे वहाँ शब्द की लक्षणा शक्ति से काम पड़ता है।' जैसे दिया बढ़ाने में बढ़ाने का अर्थ वृद्धि करना नहीं बल्कि बुझाना होगा वस्तुतः जब

शब्द के अभिधेयार्थ का मुख्य अर्थ से काम नहीं चल पाता तब उसका लक्ष्यार्थ या भिन्नार्थ ढूंढना पड़ता है। शब्द के अन्तर्गत अर्थ की यह शक्ति निहित होती है और कल्पना के सहारे मुख्यार्थ को बाँध करके इसका पता लगा लिया जाता है। इससे एक प्रकार का चमत्कार आ जाता है काव्य में इस शक्ति का यह अर्थ-चमत्कार बहुत ही महत्वपूर्ण होता है :—

इन शब्द शक्ति के अनेक भेद और उपभेद हैं जिनमें ये मुख्य हैं—

१. उपादान-लक्षणा २. लक्षण, लक्षणा ३. गौणी सारोपा लक्षणा, ४. गौणी साध्या वासना लक्षणा ५. शुद्ध सारोपा लक्षणा ५. शुद्ध साध्य वासना लक्षणा।

द्रष्टव्य—इनके विस्तार में जाना हमारा अभीष्ट नहीं है। अतः इनका विस्तृत परिचय अन्यत्र देखिये।

३. व्यंजना—शक्ति या शब्द या शब्द-समूह के वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ को प्रतीत होती है। डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में 'व्यंजना को शब्दार्थ—विशेष रूप से स्पष्ट करना, खोलना या विकसित करना। अभिधा और लक्षणा शक्तियों के अपना अर्थ बोध कराने के बाद जिस शक्ति से अन्य अर्थ का बोध होता है उसे व्यंजना कहते हैं।'

इसके दो भेद होते हैं—१. शाब्दी और, २. आर्थी। पुनः इनके भी कई उपभेद हैं जो अधोलिखित हैं—

१. अभिधामूलक शाब्दी व्यंजना, २. लक्षणामूलक शाब्दी व्यंजना, ३. अभिधामूलक आर्थी व्यंजना, ४. लक्षणामूलक आर्थी व्यंजना और व्यंग्यसंभावना आर्थी व्यंजना। (इनका विस्तृत वर्णन भी यहाँ देना अभीष्ट नहीं है।)

(विशेष—शब्द-शक्तियों का विवेचन ध्वनि-सिद्धांत के अन्तर्गत आता है। अतः इसके संबंध में ध्वनि सिद्धांत का विवेचन भी उपादेय है। गुण वृत्ति और रीति का विवेचन रीति-सिद्धांत के प्रकरण में किया जा चुका है। वहीं इनका विस्तृत उल्लेख देना चाहिए। यहाँ पर संक्षेप में उन पर प्रकाश डाला जा रहा है।)

गुण, वृत्तियाँ और रीतियाँ—शब्दों से और उनके द्वारा वाक्यों से गुणों का सम्बन्ध होता है। यों तो 'गुणों' की संख्या में काफी मतभेद है पर

इनमें से दोष अभाव आदि को छोड़ दें तो मुख्य रूप से तीन 'गुण' मान्य हैं—

१. माधुर्य, २. ओज और ३. प्रसाद।

इन तीन गुणों को उत्पन्न करने के लिए 'शब्दों की बनावट' के भी तीन प्रकार कहे गये हैं, जिन्हें वृत्ति कहा गया है। ये 'वृत्तियाँ' उपर्युक्त तीन गुणों के आधार पर तीन हैं—

१. मधुरा, २. परुषा और ३. प्रौढ़ा।

उपर्युक्त तीन गुणों के आधार पर ही पद रचना या वाक्य रचना तीन रीतियाँ बतायी गयी हैं—

१. वैदर्भी, २. गौड़ी और ३. पंचाली।

इसी क्रम के अनुसार माधुर्य गुण के लिए मधुरा वृत्ति और वैदर्भी रीति; ओज गुण के लिए परुषा वृत्ति और गौड़ी रीति; तथा प्रसाद गुण के लिए प्रौढ़ा वृत्ति और पाँचाली रीति आवश्यक मानी गयी है।

माधुर्य गुण शृंगार, करुण तथा शान्त रस को, ओज गुण वीर वीभत्स और रौद्र रस तथा प्रसाद गुण सब रसों को विशेष प्रकार से परिपुष्ट करता है। किन्तु प्रसंग विशेष में इनमें परिवर्तन भी हो जाता है। यह परिवर्तन गुण वृत्ति और रीति तीनों में हो सकता है। आवश्यकता-विशेष के कारण उक्त नियम का परिवर्तन दोष नहीं कहा जाता, वरन् कलाकार की कुशलता एवं विलक्षणता ही इससे परिलक्षित होती है।

इन गुणों वृत्तियों और रीतियों में वर्णों के प्रयोग, पदों या समासों की न्यूनता अधिकता आदि सब विधि बातों का प्रयोग किया गया है। इन्हीं तीनों तत्वों का भारतीय आचार्यों ने रचना-शैली (रीति सिद्धांत) में विस्तार एवं सूक्ष्मता से किया गया है वस्तुतः यह विवेचन पद्य-काव्य की दृष्टि से किया गया है। अभी गद्य-काव्य की दृष्टि से इस प्रकार का विवेचन नहीं हो सका है। फलतः अंग्रेजी गद्य का अधिक हमारे गद्य साहित्य पर पड़ रहा है जो अनिवार्य भी है। उसी प्रभाव के अन्तर्गत शब्दों और वाक्यों का विवेचन बाबू श्याम सुन्दर दास ने किया है।

उपर्युक्त गुणों वृत्तियों और रीतियों का काव्य में यथास्थान और यथा

संयत प्रयोग उपयोग वांछनीय है। प्रसाद गुण की महत्ता सर्वत्र और सर्वाधिक है। निबंध में तो इसकी विशेष उपादेयता है। कथा कहानी उपन्यास एवं गद्य काव्य में माधुर्य एवं ओज गुण पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

(द्रष्टव्य–विस्तृत वर्णन के लिए रीति सिद्धांत का विवेचन देखिये।)

प्रश्न ५८–शैली में अलंकरण का क्या महत्व है? संक्षिप्त उल्लेख कीजिये।

प्रश्न ५६–कविता में अलंकारों का क्या स्थान है। युक्तिसंगत विवेचना कीजिये।

भारतीय आचार्यों में 'अलंकार संप्रदाय' नाम से एक अलग संप्रादय ही हो गया है, जिसके काव्य में अलंकारों को ही सब कुछ माना है। यहाँ तक कि उन्होंने काव्य की आत्मा के स्थान पर अलंकारों को प्रतिष्ठित करते हुए 'रस' और 'रसवत् अलंकार' माना है। अन्य संप्रदाय वालों ने भी इस रूप में तो नहीं किन्तु प्रकाशान्तर से अलंकारों का काव्य में महत्व स्वीकार किया है। तात्पर्य यह है कि संस्कृत साहित्य से लेकर हिन्दी साहित्य तक के काव्य शास्त्रियों ने अलंकारों की महिमा गायी है।

'काव्य मीमांसा' के प्रणेता 'आचार्य राजशेखर' ने तो अलंकार को वेद का सातवाँ अंग तक कहा है। इसी प्रकार अन्य आचार्यों 'अलंकारिकों' ने भी अपने-अपने मत दिए हैं। (यद्यपि काव्य के लक्षणों के प्रसंग में और अलंकार संप्रदाय के विवेचन में अलंकारों के संबंध में बहुत कुछ लिखा गया है तथापि शैली की दृष्टि से उन पर विचार करने के लिए और कविता में उनके महत्व का प्रतिपादन करने के लिए यहाँ एक विशेष ढंग से सामग्री प्रस्तुत है।)

अलंकार शब्द का साधारण अर्थ आभूषण है। जिस प्रकार अलंकारादि से या आभूषणों से रमणी शरीर का सौंदर्य और भी बढ़ जाता है उसी प्रकार भाषा में-शब्द और अर्थ—में अलंकारों के द्वारा सौंदर्य की वृद्धि हो जाती है, जो लोग इस मत के हैं कि काव्य में अलंकार अनिवार्य है वे ही इसकी काव्य सौंदर्य का प्रधान साधन मानते हैं आचार्य भामह ने कहा है—

'न कान्तमपि निर्भूषणं विभाति वनिता मुखम् ।'

अर्थात् 'वनिता का सुन्दर मुख भी भूषण बिना शोभा नहीं देता ।'

आचार्य केशव दास् भी लिखते हैं—

जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवित्त ।
भूषण बिनु नहिं राजहीं, कविता, वनिता, मित्त ।

आचार्य दण्डी ने काव्य दर्शन में लिखा है—

'काव्य-शोभाकारान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ।'

अर्थात् 'काव्य के शोभाकारक सभी धर्म अलंकार शब्द से ही वाच्य हैं ।

बाबू श्यामसुन्दरदास ने भी लिखा है—'जिस प्रकार आभूषण शरीर की शोभा बढ़ा देते हैं उसी प्रकार अलंकार भी भाषा के सौंदर्य की वृद्धि करते उसका उत्कर्ष बढ़ाते और रस भाव आदि को उत्तेजित करते हैं ।'

डा० भगीरथ मिश्र के शब्दों में—'अलंकार का काव्य में महत्वपूर्ण स्थान है चाहे वह गद्य हो, चाहे पद्य-काव्य—दोनों ही में अलंकारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग होता है अलंकारों का प्रयोग नितांत स्वाभाविक है । किसी तथ्य अनुभूति घटना या चरित्र की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए अलंकारों का उपयोग होता है ।'

उनके अनुसार ही अलंकारों के प्रयोग की प्रधान परिस्थितियाँ निम्नांकित हैं :—

१—जहाँ पर हम किसी तथ्य वस्तु या चरित्र के स्वरूप को प्रकट करना चाहते हैं, वहाँ अप्रस्तुत की योजना करने में अलंकार का प्रयोग होता है ।

२—जहाँ किसी प्रभाव को स्पष्ट करना चाहते हैं, वहाँ पर हम बल निषेध, अत्युक्ति कार्य कारण संबंध हेतु कल्पना आदि के द्वारा अपना काम चलाते हैं और इस प्रकार अलंकार आ जाते हैं ।

३—कहीं क्रम असंगति तथा संज्ञा, विशेषता क्रिया आदि के चमत्कारिक प्रयोग में अलंकार आते हैं ।

४—कहीं विरोध या वैपरीत्य की विशेषता द्वारा कथन को प्रवीण बनाना चाहते हैं और अलंकार का प्रयोग करते हैं ।

५—कहीं हम निन्दा या प्रशंसा में दूसरा भाव छिपाकर व्यंग से कुछ और कहना चाहते हैं और अलंकार का समावेश हो जाता है ।

६—कहीं शब्द के ध्वनि या अर्थ सम्बन्धी चामत्कारिक प्रयोग द्वारा अलंकार की सृष्टि होती है । आदि-आदि

इस प्रकार अलंकार सुष्ठु अभिव्यंजना प्रणाली है ।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि शैली चाहे कविता की हो, चाहे गद्य की दोनों में अलंकार का स्थान महत्वपूर्ण है । डा० मिश्र के ही शब्दों में, अलंकार वाणी के विभूषण हैं । सामान्य बात अलंकारों से विभूषित होकर एक विशेष मनोरता से सम्पन्न हो जाती । अतः अलंकार सुधार न होकर चमत्कारपूर्ण उक्ति है । अलंकार कथन की ललित भंगिमा है । जिस उक्ति में कोई बाँकपन निकलता है, वही उक्ति अलंकार है ।

'उक्ति वैचित्र्य के अनेक रूप हो सकते हैं, वे ही विविध अलंकार हैं । सामान्यता यह वैचित्र्य शब्द के विशेष प्रयोग या अर्थ की भंगिमा से संपादित होता । अतः इसी आधार पर अलंकार के शब्द और अर्थ—ये दो भेद किये जाते हैं, परन्तु ये सर्वथा अलग-अलग ही आवें ऐसी बात नहीं अनेक शब्दालंकारों में अर्थलंकारों की आभा वन्नमान रहती है और अनेक अर्थलंकारों के साथ शब्द-चमत्कार का योग रहता है ।

इस तरह डा० मिश्र ने अलंकारों को स्पष्ट भी कर दिया है और उनके महत्व तथा उपयोग पर दृष्टि डालते हुए उनका शैलीगत स्थान भी बता दिया है ।

ऊपर अलंकारों के दो भेद—शब्दालंकार और अर्थलंकार की ओर संकेत कर दिया गया है इस भेद ढंग से समझ सकते हैं कि अलंकार शब्द है । किन्तु इसी बात को इस ढंग से समझ सकते है कि अलंकार शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं इसलिए उनके वाक्य दो भेद हो जाते हैं यदि कहीं दोनों प्रकार के अलंकार एक ही साथ आ जाते हैं । तो उन्हें उभयालंकार कह दिया जाता है ।

उक्त दोनों अलंकारों में शब्दालंकार के पाँच भेदों और प्रभेदों का तत्व यहीं है कि वर्णों की मैत्री संयोग या आवृत्ति के कारण शब्दों में जो चमत्कार आ जाता है । वही शब्दालंकार के अन्तर्गत है ।

अलंकारों की गणना करना कठिन है ये अलंकार कल्पना के द्वारा बुद्धि को प्रभावित करते हैं अतः बुद्धि के तत्व प्रज्ञात्मक शक्तियों—के आधार पर ही इसके वर्ग बनाये गये हैं; वे आधार हैं—साम्य, विरोध और सन्निध्य या तटस्थता । इन्हीं तीन श्रेणियों में निश्चित संख्या निबद्ध

कर देनी चाहिए। इससे एक तो वे श्रेणी बद्ध हो जायेंगे और उनकी संख्या भी नियत हो जायेगी दूसरे उनके अन्दर औचित्य भी आ जायगा वस्तुत अलंकार वर्णन करने की एक शैली हैं, वर्णन का विषय नहीं है। अत: एक वर्णीय विषयों के आधार पर अलंकारों की रचना करके उनकी संख्या बढ़ाना उचित नहीं है।'

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि अलंकारों का उद्देश्य किसी भी भाव अथवा वर्णन या अभिव्यक्ति को ऐसा चमत्कार, रमणीय, तथा आकर्षक बना देना होता है कि जिसे सुनकर या पढ़कर पाठक का हृदय रसमय होकर विशिष्ट आनन्द से आप्लावित हो जाय। दूसरे शब्दों में, अलंकारों का काम एक ओर तो भावों को रमणीय और सौंदर्ययुक्त बनाना है और दूसरी ओर आम व्यक्ति को परिष्कृत करके उन्हें चमत्कारपूर्ण तथा प्रभावोत्पादक बना देना होता है। इस प्रकार अलंकार काव्य या अभिव्यक्ति-पक्ष को तो सौंदर्य प्रदान करता है, भाव-पक्ष को भी सौंदर्यमय बनाता है, उसे उत्कर्ष की ओर अग्रसर करता है।

किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि अलंकार शब्द और अर्थ को अस्थिर धर्म हैं। जिस प्रकार भूषणों के अभाव में भी शरीर की नैसर्गिक शोभा बनी रहती है, उसी प्रकार अलंकार न रहने पर भी शब्द और अर्थ का सहज या स्वाभाविक सुन्दर, मधुरता आदि बनी रहती है। दूसरे-शब्द में अलंकार के अभाव में भी कविता-कामिनी का स्वाभाविक सौंदर्य आकर्षक हो सकता है। जिस प्रकार अत्यन्त रूपवती रमणी अपने स्वाभाविक प्राकृतिक सौंदर्य द्वारा, अलंकार (आभूषणों) को धारण न करने पर भी, सभी को आकर्षित कर लेती है, उसी प्रकार कविता या गद्य-रचना भी अपने स्वाभाविक गुणों से युक्त होने पर अलंकार के प्रयोग के बिना भी अपनी ओर हमें आकृष्ट कर सकती है।

अलंकार, निस्संदेह रूप से, काव्य मे चमत्कार लाने के साधन है। परन्तु उन्हें साध्य नहीं होना चाहिए, नहीं तो वे भारस्वरूप हो जायेंगे और आकर्षण के स्थान पर कुरुचि उत्पन्न करने वाले, मानव-मस्तिष्क को उबा देने वाले हो जायेंगे। कहना न होगा कि अलंकारों का काव्य में महत्वपूर्ण स्थान अवश्य है, किन्तु वे मूल वस्तु भाव का स्थान अवश्य हैं, किन्तु वे मूल वस्तु या भाव स्थान ले सकते।

बाबू श्यामसुन्दरदास ने इस स्थल पर उचित ही कहा है कि भावों की अन्तरात्मा और बाह्यालंकारों में बड़ा भेद है। दोनों को एक मानना या एक-दूसरे का स्थानापन्न कहना काव्यके मर्म को जानकर उसे निम्न करना है। काव्य के भाव विचार और कल्पना, उसकी अन्तरात्मा के मुख्य स्वरूप कहे गए हैं, और वास्तव में काव्य की महत्ता इन्हीं के कारण प्रतिपादित तथा व्यंजित होकर स्थिरता धारण करती है अलंकार इस महत्ता को बढ़ा सकते हैं, उसे अधिक सुन्दर और मनोहर बना सकते हैं, परन्तु भाव विचार तथा कल्पना का स्थान नहीं ग्रहण कर सकते और न उसके आधिपत्य का विनाश करके उनके स्थान के अधिकारी हो सकते हैं। हम भावों विचारों तथा कल्पनाओं का काव्यराज के अधिकारी कह सकते हैं और अलंकारों को उनके परिपार्श्वक का स्थान दे सकते हैं···उनका स्थान गौण है।'

अस्तु, अलंकार काव्य या साहित्य की अभिव्यक्ति की सौंदर्य; वृद्धि के साधन हैं-शैली को सौंदर्य प्रदान करने वाले साधन हैं, परन्तु वे भाव विचार कल्पना आदि काव्य-तत्वों की उपस्थिति में ही काव्य में सौंदर्यवर्द्धन कर सकते हैं उनके अभाव में अलंकारों की कोई सार्थकता नहीं है। जिस प्रकार एक कुरूप या भद्दी स्त्री को अनेक आभूषण पहना दिए जायें तो भी वह सौंदर्य नहीं प्राप्त कर सकती अर्थात् कोरे आभूषणादि सौंदर्य नहीं बढ़ा सकते (यदि प्रकृति की ओर से कुछ ठीक-ठीक आकृति न हो तो) उसी प्रकार भाव आदि के अभाव में कविता या कोई रचना अलंकारों से लदी हुई होने पर भी सौंदर्यहीन और आकर्षकशून्य होगी। यहीं एक बात यह भी ध्यान देने की है कि जिस प्रकार स्वाभाविक सौंदर्यवाली रमणी को सीमित आभूषण ही और सुन्दर बना देते हैं तथा आभूषणों के आधिक्य से-बोझिल होने से-वह शिथिल या भद्दी लगने लगती है उसी प्रकार भाव आदि के अभाव से कविता या किसी रचना से सीमित मात्रा में ही अलंकारों का प्रयोग उपयोग होना चाहिए उसे अलंकारों के बोझ से बोझिल नहीं करना चाहिए नहीं तो उसमें न केवल भद्दापन आएगा बल्कि दुरूहता और निष्प्राणता भी आ सकती है। दूसरे शब्दों में अलंकार काव्य या साहित्य में आवश्यक और महत्वपूर्ण हैं पर जबर्दस्ती अलंकारों की ठूंस-ठास नहीं होना चाहिए।

प्रश्न ६०—शैली में पद विन्यास का क्या महत्व है। पद की व्याख्या देते हुए स्पष्ट प्रतिपादन कीजिए।

शैली-तत्व के अंतर्गत शब्द, पद, वाक्य आदि सभी का विचार आवश्यक होता है। भारतीय आचार्यों ने पद्य-काव्य गुणों, वृत्तियों और रीतियों का जो विवेचन किया है, उनमें रीतियों—वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली—के भीतर गुणों के आधार पर पद या वाक्य रचना का ही विवेचन है। पाश्चात्य विद्वानों ने मुख्यत: शैली-तत्व को प्रधान मानकर उसके अन्तर्गत पद्य काव्य या गद्य साहित्य को दृष्टि में रखकर शब्दों की महत्ता पदों के विन्यास और वाक्य की विशेषताओं आदि का उल्लेख किया है हमारा गद्य साहित्य बहुत कुछ पश्चिमी साहित्य से प्रभावित है, अत: उसकी शैली के विवेचन मे उक्त बातों का विवेचन अनिवार्य हो जाता है। हमारे यहाँ की शब्दशक्ति विवेचन और अलंकारादि के अन्तर्गत पद-विन्यास की बहुत-सी बातें स्वत: समाविष्ट हो गयी हैं फिर भी गद्य की दृष्टि से पदों के विन्यास का महत्व कुछ भिन्न है, उसका विवेचन किया जा रहा है।

पद—सर्वप्रथम यह प्रश्न उठता है कि पद क्या है। और शब्द, पद तथा वाक्य मे क्या सम्बन्ध है? इसका कारण यह है कि पद या वाक्य रचना अथवा 'शब्द या पद' कहने पर स्पष्ट धारणा नहीं हो पाती। इसलिए हम इसे ही सबसे पहले स्पष्ट करना चाहेंगे।

डा॰ भागीरथ मिश्र ने 'ध्वनि-सिद्धांत' के अन्तर्गत 'शब्द-शक्ति' के विवेचन के पूर्व 'शब्द पद और वाक्य' शीर्षक देकर जो कुछ लिखा है, उसे यहाँ उक्त तथ्य को समझाने के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है—

'महाकाव्य का कथन है कि 'प्रतीत कराने वाली ध्वनि को शब्द कहते हैं।' मोटे तौर पर शब्द का अर्थ ध्वनि, वाक्य, पद कथन आदि भी अर्थ भी होता है।······ शब्द सार्थक भी होते हैं और निरर्थक भी परन्तु, काव्य के भीतर कोई भी शब्द निरर्थक नहीं। शब्द समूह जब प्रयोग के उपयुक्त होता है या प्रयोग की योग्यता प्राप्त करता है, तब वह पद प्रयोगार्थ शब्द समूह होता है, प्राय: शब्द और पद समान अर्थों में ही

प्रयुक्त होता है, परन्तु. प्रयोग में आया हुआ सार्थक शब्द ही पद है। वाक्य, वह पद-समूह है जो पूर्ण को प्रकाशित करता है।'

उपर्युक्त उद्धरण से शब्द पद और वाक्य की स्पष्ट धारणा होती जाती है और उनका सामान्य प्रयोग, विशिष्ट अर्थ, तथा परस्पर सम्बन्ध भी ज्ञात हो जाता है। वाक्य, वास्तव में, पद समूह होता है, अत: पद विन्यास के विवेचन में वाक्यों-समूहों (पदों के समूहों) का विचार होता है। इसलिए बाबू श्याम सुन्दर दास जी ने कहा है—'पदों से हमारा तात्पर्य वाक्य के समूहों से है।' अस्तु, आगे उन्हीं के आधार पर पद-विन्यास के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

पद-विन्यास—प्राय: लेखक को किसी विषय पर पुस्तक लिखने के पहले उसके मुख्य विभाग करने पड़ते हैं; वे विभाग ही आगे अध्याय या परिच्छेद बनते हैं। प्रत्येक अध्याय के मुख्य विषय के प्रधान अंगों का प्रतिपादन किया जाता है। इस संबंध में लेखक को यह ध्यान रखना चाहिए कि परिच्छेदों या अध्यायों का निश्चय इस ढंग से करें कि मुख्य विषय की प्रधान-प्रधान बातें एक-एक परिच्छेद में आ जायें। ऐसा न हो कि उनकी आवृत्ति की आवश्यकता पड़े और वे एक दूसरे को अतिव्याप्त करें। इस प्रकार के निश्चय से सभी परिच्छेद परस्पर सम्बद्ध प्रतीत होंगे और प्रतिपादित विषय को समझाने में सफलता होगी।

परिच्छेदों में प्रधान विषयों को विभक्ति करके इस तरह सुव्यवस्थित रूप में देना पड़ता है कि पदों या वाक्य समूह की एक पूर्ण शृंखला सी बन जाय। इस शृंखला की एक कड़ी टूट जाने से अर्थात् एक पद वाक्य-समूह हट जाने से पूरी शृंखला अव्यवस्थित तथा संबद्ध हो सकती है। बाबू श्यामसुन्दर दास के शब्दों में—

'पदों में इस बात का विशेष ध्यान रखना पड़ता है कि उसमें किसी एक बात का प्रतिपादन किया जाय और उस पद के समस्त वाक्य एक-दूसरे से इस भाँति मिले रहें कि यदि बीच मे से कोई वाक्य निकल

जाय तो वाक्य की स्पष्टता नष्ट होकर उनकी शिथिलता स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे। इस मुख्य सिद्धांत को सामने रखकर पदों की रचना आरम्भ करनी चाहिये।'

इस संबंध में दो बातें विशेष महत्व की हैं—

(१) वाक्यों का एक दूसरे से संबंध तथा संक्रमण; और

(२) वाक्यों के भावों में क्रम विकास या परिवर्तन।

वाक्यों का संबंध और संक्रमण उनके समुचित संगठन पर निर्भर है। अतएव उच्छृंखलता से बचाकर उन्हें इस तरह संगठित करना चाहिए कि हम एक वाक्य से दूसरे वाक्य पर बिना अवरोध और परिश्रम के चलते जायें। अर्थात् स्वाभाविक प्रभाव से आगे बढ़ते चले जायें तथा अन्त तक पहुंचने के पहले न रुक सकें। दूसरे शब्दों में वाक्यों को परस्पर, इस तरह संबंधित करना आवश्यक है कि एक वाक्य के बाद दूसरे वाक्य पर हमारी दृष्टि सरलता से अग्रसर होती जाय और हमारे मस्तिष्क तथा हृदय पर उन वाक्यों और विचारों, भावों तथा कल्पनाओं का क्रमसर अधिकाधिक प्रभाव पड़ता जाय। हमें कहीं कोई रुकावट न प्रतीत हो और पीछे की ओर मुड़कर वाक्यों पर फिर से ध्यान न देना पड़े। भावों तथा विचारों का क्रमशः विकास और परिवर्तन होता चले सारांश यह कि अनुभूति तथा विचारों के साथ अभिव्यक्ति का ऐसा निर्बाध सामंजस्य और तादात्म्य हो कि प्रसाद एवं स्पष्टता का गुण आ जाय।

अन्त में, यह बात देना आवश्यक है कि उक्त दोनों बातों में सफलता तभी मिल सकती है, जब संयोजक और वियोजक शब्दों का ध्यान और कौशल से प्रयोग किया जाय। जहां ऐसे शब्द आवश्यक न हों वहां वाक्यों के भावों से ही उनका काम लेना उचित है।